॥ श्रीहरिः ॥

1954

शिव-स्मरण

भगवान् शिवके दस नामोंकी दस प्रेरक कथाएँ

गीताप्रेस, गोरखपुर

शिव

कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं अम्बिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।
कारुणीककलकञ्जलोचनं नौमि शंकरमनङ्गमोचनम्॥

कुन्द—शुद्ध सत्ता। गन्धवती पृथ्वीका निर्मल उज्ज्वल तन्मात्र-स्वरूप।

इन्दु—घनीभूत आह्लाद।

दर—शंख, ज्ञानका चिन्मात्र-स्वरूप। अनिमित्त अघोषित स्वरका उज्ज्वल प्रतीक।

'**कुन्द इन्दु दर गौर**'—शुद्ध-सच्चिदानन्दघन-विग्रह, किंतु '**सुन्दरं**' परम मनोरम।

'**अभीष्टसिद्धिदम् अम्बिकापतिम्**'—अम्बिका—जगज्जननी, परमकरुणामयी, ममतामूर्ति और सर्वाभीष्ट—सकल लौकिक, पारलौकिक कामनाओंका उदय उनके अरुण मृदुल चारु चरणोंकी छायासे ही होता है। उन वात्सल्यमयीके आराध्य—सर्वाभीष्टप्रदायक।

'**अनङ्गमोचनं शंकरम्**'—कामको भस्म करके परम कल्याण करनेवाले प्रभुको '**नौमि**' नमस्कार करता हूँ।

शंखोज्ज्वल कुन्दकुसुम-सुकुमार श्रीमूर्ति और उससे आह्लादकारी राशि-राशि ज्योत्स्ना झर रही है। झर रही है ज्योत्स्ना और अणु-अणु उसमें स्नान करके आनन्द-नृत्य कर रहा है। प्रकृतिका कण-कण नाच रहा है उस कल्याणधारामें स्नान करके। गंगाधर शशांकशेखर त्रिलोचन वह सच्चिदानन्दघन श्रीमूर्ति मनमें आये—प्यासे प्राण पुकारें तो आयेगी ही। प्राण पुकारें तो—'शिव! हर! महादेव!'

'क्यों पुकारें?'

मत पुकारिये; किंतु यह स्मरण रखिये—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

(दुर्गासप्तशती)

देवी भगवती महामायाको जानते हैं? यह अनादि सृष्टि जिनकी क्रीड़ा है, कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका सृजन-संहार जिनका विनोद है, जीवका साधन, जीवका योग-तप, ज्ञान-ध्यान उनको प्रतिहत कर पायेगा?

महानिष्ठुरा है वह मुण्डमालिनी—हाँ, मुण्डोंकी माला पहिनती है वह कृपा—कृपामयी। वह अकेली कभी नहीं होती। उसका विनोद है—कोई उसके रंगमंचसे भागने लगा तो पैर पकड़कर पटक देती है। बड़े-बड़े ज्ञानियोंका चित्त वह बलपूर्वक खींच लेती है—छीन लेती है और दे देती है मोहको।

उस कराल ताण्डविनीके सम्मुख टिकेंगे आपके पद?

भयभीत होनेका कारण नहीं है। वह चामुण्डा, छिन्नमस्ता ही नहीं है। वह त्रिपुरा है, गौरी है, अम्बिका है। जब वह अपने आराध्यके चरणोंमें होती

है, उसे केवल अपने शिशु दीखते हैं। सृष्टिकी समस्त माताओंका वात्सल्य उसके वात्सल्याम्बुधिके सीकरसे समुद्भूत होता है। वह ममतामयी, स्नेहमयी अम्बिका—शिशुके प्रति उसकी स्नेहधारा अनवच्छिन्न है।

इस वात्सल्यमयी अम्बिकाके जो आराध्य हैं, इसके जो स्वामी हैं, वे आपके मन-मन्दिरमें आ जायँ तो अम्बिका आपकी सँभाल स्वयं कर लेगी। शिशुको अपने लालन-पालनकी मातासे प्रार्थना नहीं करनी पड़ती।

कामनाका उदय होता है महामायाके रागारुण श्रीचरणोंकी छायासे! सर्वाभीष्ट—सब इच्छाएँ प्राणीके अन्त:करणमें यह विनोदमयी ही उत्थित करती है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष—अभीष्टका क्षेत्र इससे बाहर तो नहीं होगा?

सच पूछिये तो ये अम्बिकानाथ अभीष्टदाता नहीं हैं। इनके स्वरूपमें न कामना है, न कामनाकी पूर्ति-अपूर्ति। ये तो निर्गुण हैं—प्रकृतिका कोई गुण इनका स्पर्श नहीं करता; किंतु ये अम्बिकापति हैं न। इनका अभीष्ट-सिद्धि करनेवाला स्वरूप यही है कि ये महामायाके स्वामी हैं।

इनके चारु चरण मनमें आये और महामाया आपके लिये जगदम्बा हो जाती है। फिर उससे शिशुका अपूर्ण अभीष्ट देखा नहीं जाता। वह स्वयं लग जाती है अभीष्टको सम्यक् सजानेमें।

भगवान् तो अनंगमोचन शंकर हैं। उनका स्वरूप है—कामको भस्म करके परम कल्याण प्रदान करना।

'जहाँ काम तहँ राम नहिं।'

कामनाएँ भी रहें और जीवका कल्याण भी हो जाय—यह तो हुआ नहीं करता। शंकर भगवान् तो कामारि हैं।

आप कामनाओंपर विजय नहीं पा रहे हैं, तो चिन्ताकी बात नहीं है। जिस मदनने स्रष्टाको भी अपराजित नहीं छोड़ा, उसे आप पराजित कर कैसे सकते हैं? आपका काम कामसे लड़ना नहीं है। हिमालयपर सिर

पटकेंगे तो सिर फूटेगा। हिमालय डिगनेवाला नहीं है। आपका काम है मदनारिको पुकारना—उन प्रभुका स्मरण करना। आप अपना काम कीजिये।

कामनाएँ—अरे, इनका अधिष्ठाता तो पता नहीं, कब भस्म किया जा चुका। उसे अस्तित्व पुन: मिला जिनके आशीर्वादसे, उनके आश्रितोंकी ओर देखनेका साहस करेगा वह ? आप आश्रित तो बनें उस शूलपाणिके।

कई वर्ष हो गये, जब मैंने मानसरोवर-कैलासकी यात्रा की थी। मार्गदर्शक, रसोइयेके अतिरिक्त केवल एक सहयात्री थे। हम दोनों एक छोटे तम्बूमें सोते थे और रसोइया तथा मार्गदर्शक दूसरे तम्बूमें।

'दादा, मेरा मनोरथ सफल हो गया।' वे सहयात्री आयुमें छोटे होनेसे मुझे 'दादा' कहते थे। मानसरोवरके किनारे हमारा शिविर था। प्रात: उठकर उन्होंने बड़े उत्फुल्ल मुखसे यह सुनाया।

'हुआ क्या ?' मैंने पूछा।

उन्होंने जो कुछ कहा, उसका सारांश दे रहा हूँ। उनके शब्द अब ठीक-ठीक स्मरण नहीं हैं। घरपर कभी उनको कोई महात्मा मिले थे। उन सन्तने कहा था—'यदि तुम मानसरोवरकी यात्रा करो और वहाँ सूर्योदयसे सूर्यास्ततक खुले आकाशके नीचे, व्रत करके रहो तो रात्रिमें तुम्हें उमा-महेश्वरके दर्शन होंगे।'

उन्होंने पहले दिन दोनों समय खाया नहीं था। पूछनेपर कोई ठीक कारण न बताकर कह दिया था—'इच्छा नहीं है।' मानसरोवरके किनारे दिनभर दूरतक घूमते रहे थे।

'मुझे दर्शन हो गये!' उन्होंने बतलाया—मैंने आपको जगानेका दो-तीन बार प्रयत्न किया; किंतु 'माँ'ने रोक दिया, यह कहकर—'बच्चा सो रहा है। जगा मत।'

स्पष्ट कर दूँ कि मैंने कुछ देखा या अनुभव किया नहीं। मैं उनकी बात ही दे रहा हूँ। उन्होंने सच कहा होगा—ऐसा मुझे विश्वास है।

'तुमको कुछ वरदान मिला ?' मैंने पूछा।

उन्होंने एक हस्तलिखित कागज निकाला। उसमें केवल बहुतसे नामोंकी सूची थी। उन्होंने बतलाया—'यह मेरे पूर्वजों आदिकी नामावली है, जो मैं पूछ-पाछकर बना सका। मैंने प्रभुसे वरदान माँगा—इन लोगोंको नरकसे निकाल दें! प्रभुने सूची पढ़नेको कहा। मैं एक-एक नाम पढ़ता जाता था और वे हाथसे निकालनेका हल्का संकेत करते जाते थे।'

'और कुछ?' मैंने पूछा।

'नहीं।' उन्होंने कहा—'सूची पूरी हुई और प्रभु अदृश्य हो गये माँके साथ।'

'हाय रे भाग्य!' मेरे मुखसे निकल गया—'कल्पवृक्षके नीचे पहुँचकर भी तुम कंगाल ही रहे।'

'आप यदि नींदमें न होते तो क्या माँगते?' उन्होंने पूछा।

'मैं क्यों माँगता?' मैंने कहा—'मुझे जो माँगना था, वह तो नींदमें होनेपर भी मुझे मिल गया।'

'क्या मिला आपको?' बहुत चौंके थे वे।

'जगज्जननीने 'बच्चा' कहा था न मुझे?' मैंने पूछा।

'कहा तो था। मैंने दो-तीन बार जगानेका प्रयत्न किया और प्रत्येक बार माँने मना किया। प्रत्येक बार 'बच्चा' कहा। पिछली बार तो उनके स्वरमें रोषभरी झिड़की थी।' वे बोले।

'जागनेपर भी मैं और क्या माँगनेवाला था। मुझे कहना ही यह था कि अपने श्रीमुखसे एक बार 'पुत्र' कहकर सम्बोधित करो।'

'प्रभु यदि माँगनेको कहते' उन्होंने बात बिना समझे पूछा—'क्या माँगते आप?'

'तुम जानते हो कि पुत्रको माता-पितासे लड़ने-झगड़नेका भी अधिकार है।' मैंने उन्हें बतलाया—'और मेरा स्वभाव झगड़ा मोल लेनेवाला है।'

'आप प्रभुसे झगड़ा करते?' आश्चर्यसे देखते रह गये वे।

'मैं कहता—आप पिता हैं। बच्चेपर प्रसन्न हैं तो जो प्रसन्नता हो दे दें;

किंतु मैं भिखारी हूँ—यह आप क्यों समझते हैं? माता-पिताका जो कुछ है, वह तो पुत्रका स्वत्व है। उससे बाहर कुछ बचता है क्या?'

उन सज्जनको पश्चात्ताप हुआ। वे अपने और सूचीके सब नामोंके लिये मोक्ष माँग सकते थे; किंतु अभीष्टका—कामनाका पात्र होता ही बहुत छोटा है। उसे लेकर जानेवालेके हाथ उतना ही तो आयेगा, जितना बड़ा उसका पात्र होगा।

शंकर परम कल्याणप्रदाता प्रभु हैं अनङ्गमोचन होकर। वस्तुतः जीवको लघु-बन्धनग्रस्त किया है कामनाओं—उसके छोटे-बड़े अभीष्टोंने। इस कामनासमूहका ही ध्वंस अभीष्ट है। कामनाशका ही नाम कल्याण है और कामनाश होता है तब, जब कामारिको अपने चिन्तनका विषय बनाया जाता है।

आप मेरे साथ शिव-स्मरण करेंगे? अभीष्टपूर्ति चाहिये तो और कामनाओंसे मुक्त होकर कल्याण चाहिये तो—करणीय तो यही है।

महादेव शिवशंकर शम्भो उमाकान्त हर त्रिपुरारे।
मृत्युञ्जय वृषभध्वज शूलिन् गङ्गाधर मृड मदनारे॥
हर शिवशंकर गौरीशं वन्दे गङ्गाधरमीशम्।
रुद्रं पशुपतिमीशानं कलये काशीपुरिनाथम्॥
शिव शम्भो! शिव शम्भो!
हर गौरीशंकर जय शम्भो!

पुरारि

महामायावी दानवेन्द्र मयके तीन पुत्र थे—विद्युन्माली, विद्युज्जिह्व, विद्युच्छत्रु। मयने तीन वैमानिक नगरोंका निर्माण किया। एक नगर स्वर्णका, एक रजतका और एक लौहका। अपने तीनों पुत्रोंको उसने क्रमशः एक-एक नगर दे दिया।

मयके पुत्र इन नगरोंमें दानवोंके साथ रहने लगे। स्वयं मय भी इनमें रहता था। ये लोग रहते भी तो बात क्या थी; किंतु ये तो सृष्टिमें महानाश करते घूमते थे।

मयके तीनों नगर वैमानिक नगर थे। ये पृथ्वीपर, गिरिशिखरपर, जलमें—कहीं भी उतर सकते थे। सीधे ऊपर उड़ सकते थे। इनकी गति अकल्पनीय तीव्र थी। ये चाहे जब और चाहे जितनी देरको अदृश्य रह सकते थे।

सबसे बड़ी विशेषता इन नगरोंमें यह थी कि ये अभेद्य थे। किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे इन्हें तोड़ा-फोड़ा नहीं जा सकता था। ये तीनों नगर जब पृथक्-पृथक् रहते थे, इन्हें नष्ट करनेका कोई उपाय नहीं था। एक सहस्र वर्षोंमें केवल एक बार एक मुहूर्तको ये परस्पर मिलते थे। उसी समय इनको नष्ट करना सम्भव था।

मयको इतनेसे सन्तोष नहीं हुआ। उन महायोगीने सिद्धरसका एक कूप इन पुरोंमें निर्मित किया था। कभी कोई दुर्घटना हो ही जाती—घायल अथवा मृत किसी व्यक्तिको उस कूपके रसमें डुबा दिया जाता तो तत्काल वह स्वस्थ, सबल, सजीव होकर उठ खड़ा होता।

मृत्युका, रोग या आघातका तथा वैभवके नाशका भय नहीं रहा तो स्वभावसे उद्दण्ड एवं क्रूर दानव सर्वथा लोक-संतापक हो गये। वे अपने किसी नगरको कहीं किसी ग्राम, नगर, तपोवनपर उतार देते। शत-शत प्राणियोंको पीस डालते। अपने नगरोंके धक्केसे रम्य पर्वत, आश्रम ही नहीं, स्वर्गके देवोद्यान भी वे नष्ट करने लगे। वे नदियोंका प्रवाह अपने

नगरके द्वारा रोक देते और जब बहुत जल एकत्र हो जाता, अपना नगर हटा देते। तटके ग्राम-नगर इस प्रकार सहसा बाढ़से बह जाया करते थे।

प्राणियोंका क्रन्दन, आहतोंकी करुण पुकार, लाख-लाख लोगोंका मरण उन क्रूरोंके विनोदका साधन बन गया।

पृथ्वीके प्राणी—मनुष्य ही नहीं, ऊपरके लोकोंके देवता, गन्धर्व, ऋषि-मुनि—सब रात-दिन संत्रस्त रहने लगे। कब कहाँ त्रिपुर प्रलय उपस्थित कर देंगे—कुछ ठीक नहीं था। त्रिभुवन भय, आशंका, त्रासका नारकीय क्षेत्र बन गया।

देवता भगवान् पिनाकपाणिकी शरणमें गये। आशुतोष प्रसन्न हुए। उन्होंने धनुष चढ़ाया, उनका संकल्प ही बाण बन गया। त्रिपुरपर सूर्यमण्डलसे शर-वर्षा होने लगी। सहस्र-सहस्र दानव मरने लगे। दानवेन्द्र मय उठे। उन्होंने तत्काल आहत एवं मृत दानवोंको कूप-रसमें डालनेकी व्यवस्था की। अब जो रसमें पड़ा, वह आधे क्षणमें पहलेसे सबल, स्वस्थ ही नहीं, पहलेसे अधिक उद्धत होकर युद्धके लिये तत्पर दीखने लगा।

'भाई,! यहाँ आघात तो व्यर्थ है!' शंकरजीने हँसकर धनुष रख दिया।

'तब क्या इन दानवोंको आप ऐसे ही अभय दे रहे हैं?' देवता व्याकुल हो गये।

'नहीं' भगवान् विष्णु उठ खड़े हुए। 'कुछ कौशल अपेक्षित है यहाँ।'

'वीरभद्र! तुम मयसे कहो कि त्रिपुर बच नहीं सकता। श्रीहरिकी इच्छाका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। वे अब अकेले पाताल चले जायँ।' सच यह है कि दयाधाम शशांकशेखरका ममत्व है दानवेन्द्र मयपर। बड़े प्रिय भक्त हैं वे औढरदानीके। उनकी उपस्थिति ही त्रिपुरकी रक्षामें अबतक हेतु थी। प्रभुने अब वीरभद्रको भेज दिया मयके समीप।

इधर भगवान् विष्णुने गौका रूप धारण किया और ब्रह्माजीको बछड़ा बनाया। इस रूपमें पहुँचे त्रिपुरमें और सीधे सिद्धरसामृतसे भरे कूपपर चले गये। जैसे बहुत प्यासी गाय दौड़ी आयी हो, कूपके रसमें मुख लगा दिया उन्होंने।

कूप-रसके रक्षक थे वहाँ। इतनी सुन्दर—इतनी आकर्षक गाय उन्होंने, भला, काहेको देखी थी। ऐसा बछड़ा ही कहाँ त्रिभुवनमें। वे रोकते, इससे पूर्व तो गाय-बछड़े रस पीने लगे थे।

'जल पीती गौको मारना भारी पाप है।' दानवोंमें धर्मबुद्धि जाग्रत् हो गयी। 'पी लेने दो। बहुत प्यासे हैं दोनों। पी ही कितना लेंगे।'

दानव देखते रह गये और कूपमें एक बूँद भी रस नहीं बचा। गायने पिया ही नहीं, उसे चाटकर स्वच्छ कर दिया और तब वह अद्भुत गाय अपने बछड़ेके साथ अदृश्य हो गयी। अब रक्षक चौंके; किंतु अब होना क्या था?

दानवेन्द्र मयको कूप-रसके गौद्वारा पी लिये जानेका समाचार मिला। लगभग उसी समय वीरभद्रने आकर भगवान् शिवका आदेश सुनाया। स्थितप्रज्ञ, प्रशान्त, गम्भीर दानवेन्द्र उठ खड़े हुए। उन्होंने वीरभद्रको प्रणिपात किया—'जैसी आराध्यकी इच्छा।'

ममता, मोह, भय, शोक—कहीं कुछ नहीं। दानवेन्द्रने अपना आराध्य मणिमय शिवलिंगमात्र साथ लिया और पाताल चले गये।

इस बार प्रलयंकरने देवताओंके द्वारा रथके उपकरण प्रस्तुत किये। धर्म काल आदि ही नहीं, श्रीहरितक शरके अंग बने और अब यह आघात त्रिपुर कैसे सह लेता। तीनों पुरोंके मिलनेका समय आ गया था। वे मिले और उसी समय उनपर महारुद्र प्रहार हुआ। तीनों पुर जलते हुए गिरे।

कहा जाता है कि अमरकण्टकपर्वतपर रेवा-उद्गमसे थोड़ी दूरपर दानवोंके तीनों पुर जलते हुए गिरे थे। उस महाज्वालासे गिरिपृष्ठ फटा

और वहाँसे एक सरिता प्रकट हो गयी। उस सरिताका नाम 'ज्वाला' पड़ा। वह अब भी प्रवाहित होती है।

समष्टिमें—सृष्टिकी समष्टिमें और कालकी समष्टिमें यह घटना कभी हुई थी। ज्वाला नदी उस इतिहासकी प्रतीक है; किंतु जीवनमें—व्यष्टिमें यह घटना जो समष्टिमें इतिहास नहीं हुआ? वह व्यष्टिमें अध्यात्म नहीं बना सकता—इसे मत भूलिये। जो समष्टिमें सत्य है, व्यष्टिका सत्य भी वही है। व्यष्टिके लिये इस कथामें कोई सन्देश न होता तो पुराण इसका वर्णन क्यों करते? पुराणकारको कोई घटना—केवल इतिहासके लिये घटनोल्लेखका व्यसन नहीं है। मानव-जीवनके दुर्लभ क्षण व्यर्थकी—हेतुहीन घटनाओंकी कहानी पढ़-सुनकर प्रमादपूर्ण मनोरंजनमें नष्ट करनेको नहीं हैं। तब इस घटनाका हमारे लिये सन्देश?

मायाके तीन पुर हैं—कंचन, कामिनी, काया। अपने तीन पुत्र लोभ, काम, क्रोधको इसने ये पुर दे रखे हैं। ये तीनों पुर सृष्टिमें विनाश ही करते हैं।

कंचन—लोभ दूसरोंका शोषण—स्वत्वहरण करके सन्तुष्ट होता है।

कामिनी—कामने कितना विनाश किया है विश्वमें—इतिहास उठाकर देखनेकी आवश्यकता नहीं है। सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ कामना है और अपनी कामनाके पीछे अन्धा व्यक्ति दूसरोंकी हानि नहीं देख पाता—यह आप जानते हैं।

काया—क्रोधके ही अनुगत हैं मोह-ममतादि। इस काया तथा कायासे सम्बन्धित लोगोंको—नाम-गुण आदिको लेकर ही आपके द्वारा सब पाप होते हैं।

ये लोभ, क्रोध, काम तथा इनके अनुगत सब दोष कहीं साधन-भजन-सत्संगसे दुर्बल भी हो जायँ तो इन्हें सबल करनेवाला रसकूप है कायामें। इन्द्रिय-सुखमें आसक्ति—यह रसासक्ति इनको पुनः सजीव ही नहीं करती, इन्हें सशक्त भी बना देती है।

भगवान् शिवकी शरण लें सात्त्विक वृत्तियाँ, तो भी काम नहीं बनता। कल्याणका सब प्रयत्न इन्द्रिय-रसासक्ति निष्फल कर देती है। यह रसासक्ति मिटे तो दानवपुर नष्ट हों।

भगवान् श्रीहरि गौ बनें। वे गोपाल इन्द्रियोंके द्वारा आराधित हों, उनका रूप-माधुर्य मुग्ध करे इन्द्रियोंको, तब यह रस—विषय-रस सूखे। वे ही इसे पी जायँ—उनके चरणोंकी प्रीति आये, तब यह समाप्त हो।

इन्द्रियासक्ति—विषयासक्ति मिट गयी तो काम समाप्त हो गया?

सुविधा हो गयी—मात्र इतना ही। यहीं कहीं सन्तुष्ट हो गये तो—मयको समय मिलेगा और वह पुनः कूपको सिद्धरसामृतसे भर देगा।

'तरङ्गायिता अपि इमे सङ्गात्समुद्रायन्ति।'

(नारदभक्ति-सूत्र)

'ये अत्यन्त लघु—सत्त्वहीन प्राय होनेपर भी अनुकूल संग पाकर समुद्र बन जाती हैं।'

मय नहीं मरेगा। माया वस्तुतः प्रभुकी शक्ति है। उनका विनाश नहीं होता—आवश्यक भी नहीं है।

त्रिपुर-नाशके लिये आवश्यक है कि मयको वहाँसे हटा दिया जाय। यह काम प्रभु स्वयं करेंगे, दूसरा इसे कर नहीं सकता; किंतु वे करेंगे—करते ही हैं।

'प्रभु सेवकहि न ब्याप अबिद्या।'

दूसरी आवश्यकता है कि ये तीनों पुर परस्पर मिलें। काम, लोभ, क्रोधकी वृत्तियोंका एकीकरण कब होगा? जब ये प्रबुद्ध न होकर सुषुप्त होंगी।

आप चाहें तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको मयके तीन पुर मान सकते हैं। इन अवस्थाओंका संधिकाल-योगमें अवस्थातीत स्थितिकी प्राप्तिके लिये प्रशस्त माना गया है। इस संधिकालमें बोधवृत्तिका उदय हो तो वे ज्ञानरूप शिव त्रिपुरका—त्रिगुणात्मिका मायाके प्रपंचका विनाश करेंगे।

भगवदनुरागने विषय-रसको शुष्क कर दिया हो और भगवदनुग्रहसे अन्त:करण उनके श्रीचरणोंकी ओर उन्मुख हो। काम-क्रोध-लोभकी वृत्तियाँ शान्त हों—उदितावस्थामें न हों, इस अवस्थामें साधकके प्राणोंमें भगवत्प्राप्तिकी जो प्यास है, वह जागती है और वही समस्त सात्त्विक वृत्तियोंका सहयोग स्वत: प्राप्त कर लेती है।

जीवनमें त्रिपुरके नाशकी जो अनुभूति है, उसे वाणी व्यक्त नहीं कर सकती। आप उसे भगवत्साक्षात्कार कहें, अपरोक्षानुभव कहें अथवा निर्विकल्पावस्था कहें—शब्दोंमें उसे व्यक्त करनेकी सामर्थ्य नहीं है।

इसके पश्चात्? इसके पश्चात् जीवनमें केवल रसधारा शेष रहती है। आप उसका नाम भले ज्वाला रख लें, वह तो सरिता है। संसारके प्यासे प्राणियोंको उससे तृषाशान्ति और शीतलता प्राप्त होती है।

भगवान्‌के—आराध्यके दो रूप होते हैं—ध्येय रूप और चिन्त्य रूप। शिवरूप—रुद्ररूप भी ध्येय रूप है, किंतु त्रिपुरारिरूप चिन्त्यरूप है। वस्तुत: त्रिपुरारि रूप नहीं है। यह एक नाम है, जो एक लीला-विशेषका सूचक है और वह लीला साधकको बहुत कुछ बतलाती है।

मायाके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पुर अर्थात् स्थूलसृष्टि, दैविक सूक्ष्मसृष्टि और मानसिक सृष्टि—स्थूलदेह, सूक्ष्मदेह, कारणदेह—ये सब ताप ही तो देते हैं। इन त्रिविध तापोंसे, इन त्रिविध देहके क्लेशोंसे संतप्त प्राणीके निस्तारका मार्ग है—त्रिपुरारिकी शरण। पुरारि ही इन पुरोंको भस्म करनेमें समर्थ हैं।

दक्षिणामूर्ति

चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्याः संछिन्नसंशयाः॥

'आश्चर्यकी बात है कि वटवृक्षकी जड़के समीप गुरु जो बैठा है, वह तो युवा है—नित्य युवा है वह और उसके समीप बैठे शिष्य ऋषि-महर्षि वृद्ध हैं। गुरु अपने मौनसे ही प्रवचन कर रहा है, मौन ही उसका प्रवचन है और इस प्रवचनसे शिष्योंके सभी सन्देह मिट चुके हैं।'

वटवृक्षके नीचे वेदिकापर वामपाद लटकाये और उससे अज्ञान-पुरुषको दबाये, दक्षिणपाद वाम ऊरुपर स्थापित किये, कर्पूरगौर, त्रिलोचन, चतुर्भुज, गंगाधर, चन्द्रशेखर, नीलकण्ठ, हस्तिचर्माम्बर, नागयज्ञोपवीती, विभूतिभूषण, ज्ञानमुद्रासे स्थित, दक्षिणाभिमुख भगवान् शंकरकी यह दक्षिणामूर्ति गुरुमूर्ति है। यह महेश्वरका ज्ञानदाता आचार्यरूप है। परमगुरुके रूपमें यह ध्येयमूर्ति है।

परमगुरु भगवान् शिव हैं। समस्त विद्याओंके वे प्रथमाचार्य हैं और व्याकरणके मूलसूत्र—वर्णमालाके अक्षरोंका प्रादुर्भाव उनकी डमरूध्वनिसे हुआ है। अव्यक्त वाक् मानव-स्वरमें उनके अनुग्रहसे अवतीर्ण हुई।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥

(मानस १। ३ श्लोक)

'नित्यबोधमय गुरु भगवान् शिव—उनका आश्रय लेकर द्वितीयाका क्षीण, वक्र चन्द्र भी वन्दनीय हो गया है।'

परमगुरुकी चर्चा आयी तो मुझे स्मरण आ गया—मैं कैलास-मानसरोवरकी यात्रापर जा रहा था। गर्व्योंगसे कुछ और यात्री साथ हो गये थे। हमलोगोंने हिमशिखरके नीचे विश्राम किया था रात्रिमें और चार बजे ही चढ़ाई प्रारम्भ कर दी थी। सूर्योदयसे पूर्व यदि हिमशिखर पार हो जाय तो ठीक। धूपमें प्रखरता आनेसे पूर्व जो बरफ पत्थर-सी कठोर है, वही धूप

होनेपर नरम हो जायगी। उसमें कहाँ घुटनोंतक और कहाँ कटितक धँसना पड़ेगा, कहना कठिन है।

गर्व्योगसे तकलाकोट जानेके इस मार्गमें केवल एक हिमशिखर पार करना पड़ता है। हम आधीके लगभग चढ़ाईपर पहुँचे होंगे कि हिमपात प्रारम्भ हो गया। इस वर्ष ग्रीष्मारम्भमें अभीतक मार्ग खुला नहीं था। केवल कुछ बकरीवाले एक दिन पूर्व गये थे। हमारा यात्री-दल पहला ही था। सर्वत्र भूमि हिमसे पर्याप्त ऊँचाई तक ढकी थी।

जैसे कद्दूकसपर कसकर बहुत पतली नारियलकी गिरी टोकरोंसे ऊपरसे गिरायी जा रही हो, ऐसा था वह हिमपात। हमें अपने आगे कठिनाईसे एक या दो फुट दीखता था। बहुत घने कुहरेसे भी घना था वह अन्धकार।

मार्गदर्शकने हिमपातके प्रारम्भमें ही चेतावनी दी—'मेरे खोजपर ही पैर रखकर चलें। उतराईमें साथ रहें सब। जहाँ-तहाँ मार्गसे थोड़े ही इधर-उधर गहरे खड्ड हिमसे ढके हैं।'

हिमपात कोई पद-चिह्न दो क्षण भी नहीं रहने देता था। कठिन चढ़ाई, प्राणवायुकी वायुमण्डमें कमी और ऊपरसे यह हिमवर्षा। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। सब आगे-पीछे हो गये। कौन कितना पीछे है, यह न देखा जा सकता था, न देखनेका अवकाश था। मार्गदर्शक अवश्य बीच-बीचमें पुकार लेता था।

मैं पूरा बल लगाकर चढ़ रहा था। दूसरोंकी अपेक्षा पर्वतीय चढ़ाईका मुझे अभ्यास भी था। मैंने मार्गदर्शकके शब्द पीछे सुने। उसकी उपेक्षा करके बढ़ता गया। किसी भी प्रकार यह विकट चढ़ाई पार कर लेनेकी धुन थी।

शिखरपर पहुँचा तो हिमपात अधिक बढ़ गया। शीतका यह हाल कि नाकसे निकली श्वासका पानी मूछोंपर हिम बनकर जम गया था। श्वास लेनेमें कष्ट हो रहा था, उस ऊँचाईपर। अतः रुककर प्रतीक्षा कर लेनेका, साथियोंको आ जाने देनेका धैर्य नहीं रहा। मैं उतरने लग गया। जैसी खड़ी कठिन चढ़ाई थी, वैसा ही खड़ा उतार था। एक बार चला तो पैरोंकी गति

स्वतः बढ़ती गयी।

'तिष्ठ!' सहसा बड़े कड़े स्वरोंमें किसीने समीपसे ही कहा। मेरे पद एकाएक रुक गये। मैंने खड़े होकर इधर-उधर देखा। सघन हिमपातके कारण कुछ देखना सम्भव नहीं था। बस, ऐसा लगा कि दाहिनी ओर एक मानवाकार, पर बहुत अकल्पनीय दीर्घ कोई छाया-सी है। इससे अधिक दीखनेकी आशा उस हिमपातमें नहीं थी।

'अपनी छड़ीसे सम्मुख देखो।' अत्यन्त सरल संस्कृतमें फिर मुझसे कहा गया। मैंने हाथकी छड़ी अपनेसे थोड़े आगे भूमिमें गड़ानेका प्रयत्न किया तो वह भीतर घुसती चली गयी। एक बार मेरा पूरा शरीर काँप गया। इसका अर्थ था कि मैं कोमल हिमसे ढके किसी गहरे खड्डके कगारपर खड़ा था। एक पद और उठा होता तो पता नहीं, कई सौ या कई सहस्त्र फुट गहरे हिमके नीचे देह पहुँच गया होता।

'आप कौन?' दो क्षण लगे मुझे अपनेको स्थिर करनेमें। दो पद पीछे हटा मैं और तब मैंने पूछा।

'तुम्हें इससे प्रयोजन नहीं है।' उत्तर आया। 'मुझे तुम्हारी रक्षाके लिये भेजा गया है।'

'किसने भेजा है?'

'महाबुद्धने।'

'महाबुद्ध कौन?'

'हाँ—यह तुम जान सकते हो।' उत्तर आया। 'तुम्हारे यहाँ देशमें बहुत मन्दिर हैं, शिवके। उनमें प्रत्येक मन्दिरमें पूजन होता है। शिव उतने हैं क्या?''

'नहीं, वे एक हैं।'

'प्रत्येक जिज्ञासुके पृथक्-पृथक् गुरु होते हैं; किंतु सचमुच व्यक्ति गुरु नहीं होता।' वे अदृश्य कह रहे थे। ''गुरुतत्त्व—परमगुरु एक ही है। हम उसे 'महाबुद्ध' कहते हैं। तुम शेष, शिव या श्री कहते हो।''

एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

मुझे गुरुवन्दनाके श्लोकका यह उत्तरार्ध स्मरण आया। एक, नित्य, विमल, अचल, समस्त बुद्धियोंका साक्षी, भावातीत और त्रिगुणरहित, भला, व्यक्ति हो कैसे सकता है?

लगा कि दाहिनी ओर जो अस्पष्ट छायाकृति थी, वह वहाँ नहीं है। जानेसे पूर्व उसने कहा था—'अपनी वामभुजाकी ओर घूम जाओ। थोड़ी दूर चलो। हिमरहित शिला मिले तो उसपर खड़े होना। तुम्हारे साथी तुम्हें शीघ्र मिल जायँगे।'

मैं घूम गया। थोड़ी दूरीपर पर्वतका एक भाग कुछ आगे झुका मिला। फलतः उसके समीपकी शिलापर हिम नहीं था। मैं वहाँ खड़ा ही हुआ था कि हिमपात बन्द हो गया। धूप निकल आयी। मेरे साथी पर्वतसे उतरते समीप आ पहुँचे थे। भला, उनसे मैं क्या कहता।

गुरु व्यक्ति नहीं होता—जैसे मूर्ति धातु या पाषाण नहीं होती। मूर्तिमें हम सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्माकी आराधना करते हैं और उस माध्यममें हम उस दयामयका सांनिध्य पाते हैं। भगवत्सेवाका सुअवसर एवं भगवत्सांनिध्यका पूरा लाभ मूर्ति हमें देती है।

गुरु व्यक्ति नहीं है। उसमें व्यक्तित्व बचा है तो वह गुरु ही नहीं है। सर्वधीसाक्षिभूत परमगुरुका श्रीविग्रह है वह।

परमगुरु—आचार्यविग्रह महेश्वर भगवान् दक्षिणामूर्ति। विश्वको अज्ञानान्धकारसे त्राण देनेके लिये ही वे अज्ञानके अधिदेवताको अपने वामपादके नीचे दबाये ज्ञानमुद्रामें सुप्रसन्न अवस्थित हैं।

आपको योग्य गुरु नहीं मिलता? आपने ढूँढ़ देखा—किसीमें आपकी श्रद्धा नहीं होती?

पहली बात—बहुत दयनीय हैं आप। बड़ा दृढ़मूल है आपका अभिमान, जो कहीं आपको श्रद्धा नहीं करने देता।

दूसरी बात—क्या चौथी कक्षाका विद्यार्थी बारहवीं कक्षाके छात्रकी योग्यता जान सकता है? अपनेसे अधिककी योग्यता जाननेका उपाय नहीं है। आप केवल यह जान सकते हैं कि यह हमसे अधिक योग्य विद्वान् या साधक है। कोई महापुरुष है या नहीं, यह आप जान नहीं सकते। इसपर आप केवल श्रद्धा कर सकते हैं।

तीसरी बात—आपके समीप एक कसौटी है। जो आपसे, संसारमें किसीसे भी कुछ चाहता है, कुछ आशा करता है—भले वह सम्मान पानेकी ही आशा-इच्छा हो, वह साधक भी नहीं है। वह महापुरुष कहाँसे होगा। महापुरुषमें कामना नहीं होती। साधकको कोई कामना हुई तो उसका आराध्य न कृपण है न असमर्थ। अतः वह अपने आराध्यको छोड़कर किसीसे कुछ नहीं चाहता।

'तीनों बातें ठीक; किंतु गुरु न मिले तो?'

परमगुरु कहीं चले गये हैं? वे समस्त बुद्धियोंके साक्षी हैं तो आपकी बुद्धिके साक्षी नहीं हैं? आप उनकी—सबके आचार्यरूप दक्षिणामूर्तिकी शरण क्यों नहीं लेते? उनकी कृपा किसी भी प्रतिबन्धकसे प्रतिरुद्ध नहीं हुआ करती। आप उनकी शरण लेंगे तो ज्ञानका प्रकाश आपके हृदयमें स्वतः होगा और यदि आपको किसी देहधारी मार्गदर्शककी ही सचमुच आवश्यकता है तो क्या उसे आपतक भेज देनेमें वे समर्थ नहीं हैं?

आपकी आवश्यकता—इस आवश्यकताको आप ठीक-ठीक समझते हैं या वे सर्वज्ञ? आपकी आवश्यकतानुभूति भ्रान्त नहीं हो सकती क्या?

कोई मार्गदर्शक होगा—वह व्यक्ति तो नहीं होगा। वह उनसे अभिन्न होकर, उन परमगुरुका प्रतीक होकर ही तो मार्ग-दर्शन करेगा। तब उसे कहीं भेज देनेमें उन्हें कोई कठिनाई है?

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।

य: साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

(दक्षिणामूर्त्यष्टकम् २)

'दर्पणके भीतर प्रतिबिम्बित नगरके समान यह सम्पूर्ण विश्व मायासे अपने-आपमें ही उसी प्रकार बाह्यकी भाँति दीखता है, जैसे स्वप्नमें दीखनेवाला संसार—सूर्य-चन्द्र, पृथ्वी-आकाश, सचराचर प्राणी—अपने भीतर होते हुए भी बाहर-सा दीखता है। इस प्रकार बोधवृत्तिके उदयकालमें जो अपने अद्वय आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, उन गुरुमूर्ति श्रीदक्षिणामूर्तिको हमारा नमस्कार।'

नमस्कार—उन अद्वय, ज्ञानस्वरूप, करुणासागरकी और कोई सेवा-अर्चा क्या की जा सकती है। उनके श्रीचरणोंमें अपने अहंको, अपने अस्तित्वको शिथिल करके नत हो जायँ हम, यही हमारी सबसे बड़ी सेवा है।

बाबा! तुम शंकर हो तो और प्रलयंकर हो तो, तुम शिव हो तो और रुद्र हो तो, तुम पिता हो तो और गुरु हो तो, शिशु तुम्हारे श्रीचरणोंमें नत है। अपने कल्याण—अपने हितसे अज्ञ शिशु तुम्हारे श्रीचरणोंमें प्रणत है।

आप न पंकजारुण विधि-सुर-मुनि-वन्द्य श्रीचरणोंमें मनसे नमस्कार करके, अपनेको नत करके देखें! ज्ञान-घनकी कृपावृष्टि आपको आप्लावित करके रहेगी।

पञ्चवक्त्र

‘पञ्चवक्त्रः परमेश्वरः’

‘परमात्मा पाँच मुखवाला है।’

आपके कितने मुख हैं?

प्रश्न आपको अटपटा लगा? पूछनेका कारण है। आप उसी परमात्माके पुत्र हैं और उसने मनुष्यको अपने अनुरूप ही बनाया है।

चौंकिये मत—आपके भी पाँच मुख हैं।

मुख वह, जिससे भोजन किया जाय। आप ‘गन्धका आहार किससे लेते हैं?’

‘नासिकासे।’

तो यह ‘नासिका’ आपका प्रथम मुख हुआ। यह ‘अघोर मुख’ है। हाथ ही नाकको बन्द न कर दें तो नाक सदा खुली रहती है। सुगन्धि आवे या दुर्गन्धि, किसीको नाक मना नहीं करती। कुछ भी—कोई भी गन्ध घोर नहीं है। सदा खुला रहनेवाला यह मुख; किन्तु किसी गन्धके समीप नहीं जायगा। कोई गन्ध आवे, न आवे—यह निर्विकार। यह श्वास-प्रश्वासका माध्यम मुख है। जीवन-श्वास अघोर है। किसीसे राग नहीं, किसीसे द्वेष नहीं। किसीका आह्वान नहीं, किसीकी उपेक्षा नहीं।

भगवान् शिवका ‘अघोर मुख’—नित्य खुला मुख और वह भूतत्त्वात्मक मुख है। गन्धकी साधना यदि साधकको अपने चमत्कारोंमें ही उलझा न ले, वह अघोर मुखका साक्षात्कार करेगा।

अघोर शंकर—समष्टिमें कहीं कुछ घोर नहीं। कुछ भी घृणा या द्वेषके योग्य नहीं। सबमें सम, सबमें निरपेक्ष प्रभु।

आपका दूसरा मुख वह मुख है, जिसे आप ‘मुख’ कहते हैं। वस्तुतः मुख तो रसना है। यह मुखमें रहती है—अतः मुखका नाम ‘मुख’ कहलाता है। सम्पूर्ण मुखमण्डलको मुख इसीलिये कहते हैं कि उसमें मुखस्वरूप पाँचों इन्द्रियाँ हैं। उनमें चार तो केवल यहीं हैं, त्वचा सम्पूर्ण

देहमें व्यापक है।

आपकी जीभ एक नहीं, दो इन्द्रियोंका आधार है। इस यन्त्रके द्वारा दो इन्द्रियाँ काम करती हैं। एक ज्ञानेन्द्रिय 'रसना' और दूसरी कर्मेन्द्रिय 'वाक्'। काम दो इन्द्रियोंको करना जीभके द्वारा और जीभ मुखके भीतर बन्द रखी गयी है। यह बन्द रहनेवाला मुख है, जो आपके खोलनेपर खुलता है। आप स्वेच्छापूर्वक न खोलें तो यह बन्द रहेगा।

अघोरके समीप ही यह 'ईशान मुख'। जो ईश हैं—समर्थ हैं—परमेश्वर हैं, वे भी इस मुखको बन्द रखते हैं, उन्होंने आपको यह मुख आपके नियन्त्रणमें दिया है।

कर्मेन्द्रियाँ सभी नियन्त्रित हैं। आप क्या बोलें—क्या न बोलें—कब न बोलें, कब बोलें—यह आपकी इच्छा। क्या करें, क्या न करें, कहाँ जायँ, कहाँ न जायँ, मल-मूत्रका त्याग कब करें, कब न करें, यह आपके ऊपर निर्भर है। इनके द्वारा कर्म करानेमें स्वतन्त्र होनेसे ही मनुष्यको 'कर्मयोनिका प्राणी' कहा जाता है।

ज्ञानेन्द्रियोंमें केवल रसना ही मुखके बन्द सम्पुटमें रखी गयी है, इसका अर्थ है कि मुखमें क्या डालना और क्या नहीं डालना—इस खाद्य-अखाद्य-विचारमें आप अपनी बुद्धिका भली प्रकार उपयोग करें, यह प्रकृति और परमेश्वर आपसे अपेक्षा करते हैं।

रसना केवल स्वाद सूचित करती है। अपने समीप कुछ रखना मुखका काम नहीं है। मुख आहार ग्रहण करता है, शरीरके पोषणके लिये। नासिकाको सुगन्धि या दुर्गन्धि न मिले तो देहका कुछ नहीं बिगड़ता। उसे केवल श्वास-प्रश्वास लेते रहना चाहिये। किंतु रसना आहार ग्रहण न करे तो, शरीर चल नहीं सकता।

परमेश्वर पंचमुख-पंचरूप हैं। वे द्रष्टा-साक्षी हैं। उन अन्तर्यामीकी दृष्टिमात्रसे प्रकृतिमें जीवन है। उन अघोरका सांनिध्य-साक्षित्व प्राप्त न रहे—जीवन दो क्षण नहीं चलेगा; किंतु वे केवल साक्षी—अघोर मुख नहीं हैं। वे ईशानमुख हैं। अहंकार प्राणीको अन्धा न कर दे, वह देख

सकता है कि क्षण-क्षण उसका पालन-पोषण वे प्रभु ही कर रहे हैं।

ईशान—ईश्वर; सर्वव्यापक-संचालक होकर परमात्मा नित्य हमारे साथ है। कोई मनुष्य [कैसे भी आचरण एवं किसी भी योग्यताका जो उन्मत्त न हो, जिसमें सोचने समझनेकी योग्यता हो] मिल नहीं सकता, जिसने जीवनमें किसी न किसी संकटकी घड़ीमें अनुभव न किया हो कि उसे किसी अज्ञात शक्तिने सहायता दी है। भले, वह दो क्षण पीछे उसे संयोग कहकर टाल दे।

'वह केवल विपत्तिमें सहायता देता है?'

'भ्रम है आपका यह। आपका पालक वही है। उसी पिताकी गोदमें उसके अमृत करका स्पर्श पाकर अपना जीवन पल रहा है। वह तटस्थ साक्षीमात्र नहीं, वह धारक एवं पालक है।'

आपका तृतीय मुख है—जिसे आप 'नेत्र' कहते हैं। इस मुखसे आप रूपका आहार ग्रहण करते हैं। रसना और नेत्रमें कुछ साम्य है—कुछ वैषम्य है। रसना बन्द मुखमें है। आप जब इच्छा करें, तब मुखमें कुछ डालें और तब रसना उसका स्वाद बतलावे। इस प्रकार वह सम्पूर्ण नियन्त्रित द्वार है। नेत्र अर्धनियन्त्रित हैं। ये निद्राको छोड़कर खुले रहते हैं। इन्हें आप जब चाहें तब बन्द कर लें। आप जो न देखना चाहें, उधरसे इन्हें हटा सकते हैं।

क्या देखा जाय—क्या न देखा जाय, इसमें आपको सावधान रहना है। भगवान् तो सूर्य नेत्र हैं। सूर्यका और नेत्रका काम है प्रकाशित करना—ज्ञान देना। अब इसमें सद्-असद्का विचार करना आपका काम है।

रसकी साधना भी योगमें है और रूपकी ज्योतिकी साधना भी। जिह्वाका दोहन-छेदन करके, कण्ठ-कूपमें उसे स्थापित करके सहस्त्रारसे झरते अमृतका साधक आस्वादन करता है और शाम्भवी मुद्रा-द्वितीयादृष्टि अथवा अमादृष्टिका आलम्बन करके आज्ञाचक्रमें अवधानके द्वारा ज्योतिका साक्षात्कार करता है। यदि वह रस या ज्योतिमें ही उलझा न रह गया तो परमात्मतत्त्वकी उसे अनुभूति होती है।

'त्वचा' सर्वथा अनियन्त्रित—सर्वथा उन्मुक्त मुख है। सर्दी-गरमी, कोमल-कठोर मिलनेसे आप इसे रोक नहीं सकते। सम्पूर्ण देहमें व्याप्त यह इन्द्रिय—यह आपका स्पर्शग्राही मुख सदा खुला रहता है। यह आपके नियन्त्रणमें नहीं है। इसका सन्देश है—तितिक्षा। शीत-उष्ण जो आवे, उसे सहन करो।

प्रकाश—ज्ञान आपको कौन देता है? जो ज्ञानस्वरूप है, उसके अतिरिक्त कोई ज्ञान दे सकता है? वही आपके भीतर बैठा आपको ज्ञान दे रहा है। वही आपकी बुद्धिका प्रेरक सविता देवता है। साथ ही वह सत्तामात्र—स्पर्शमात्र, अनुभवमात्र है। उसकी सत्तासे ही समस्त सत्ता है; क्योंकि साधनाकी चर्चा भी साथ चल रही है—कह दूँ कि स्पर्शसाधनाकी परम्परा प्रायः लुप्त हो गयी है। बहुत कठिन एवं कष्टसाध्य यह साधना रही होगी। हम प्रिय-अप्रिय, गन्ध, स्वाद, रूप और शब्द भी सह सकते हैं; किंतु स्पर्श—वह सीधे ही सम्पर्कमें आनेसे बहुत ही कष्टसह्य होगा।

अत्यल्प नियन्त्रित द्वार हैं—'कर्ण'। बहुत कड़े ढंगसे आप कानोंको बन्द करें, तब भी कुछ-न-कुछ शब्द भीतर पहुँच ही जायगा। यह पञ्चम द्वार सदा खुला रहता है। इस मुखसे आप शब्द ग्रहण करते हैं। नित्य शब्द वेद ही भगवान्‌के पंचम मुख हैं।

शब्द आते हैं और जाते हैं। वे आपपर तबतक कोई प्रभाव नहीं डालते, जबतक आप स्वयं उनके अर्थको ग्रहण करके उसके अनुसार अपने चित्तको अनुकूल या प्रतिकूल न करें। शब्द स्वयं कुछ नहीं करते, अतः कर्णोंपर ईश्वरने आपको नियन्त्रण नहीं प्रदान किया।

आप क्या सुनना चाहते हैं—यह सोचकर उसके अनुरूप व्यवस्था आप कर लें, यह एक बात है। संसारके शब्द कर्णमें आते रहेंगे। उनसे तटस्थ रहना सीखना है।

भगवान् ब्रह्माने वेदोंके माध्यमसे सृष्टि की। पञ्चमुख पुरारिका यह वाङ्मय मुख सृष्टिका माध्यम है। यही संसार बनाता है और यही मुक्ति देता है। अतः इन 'कर्णों' से सावधान!

नासिकामें गन्ध आयी और गयी। इन्द्रिय-लोलुप विषयीकी बात मैं नहीं करता—बात साधककी। साधकके मनमें बहुत कम संसार प्रवेश कर पाता है। नाक, जीभ या त्वचाके माध्यमसे। नेत्रोंके द्वारसे—रूप देखकर चित्तमें संसार कठिनाईसे दस प्रतिशत पहुँचता है। संसार चित्तमें पहुँचता है कर्णके माध्यमसे। सुनकर हमारे मनमें संसारके संस्कार भरते हैं। आप जो पढ़ते हैं—भले अक्षर नेत्रोंसे देखते हैं, शब्दसमूहका माध्यम होनेसे शास्त्रकार उसे भी श्रवण—सुनना ही मानते हैं।

जहाँ संसार श्रवण-मार्गसे हृदयमें प्रवेश करता है, भगवान्के प्रवेशका भी यही मार्ग है। सत्संग ही भक्ति, ज्ञान एवं मोक्षका माध्यम है।

अधिकांश सन्त-मत शब्द-साधनाके समर्थक हैं। कर्ण बन्द करके अजपा-जपका अभ्यास करते हुए शब्दमें मनको एकाग्र करना और इस मार्गसे बंकनाल, शून्य-शिखरादितक कुण्डलिनीको ले जाना। वीणा, वंशी, मृदंग, शंखादिके क्रमसे अनहदनाद-श्रवण इस मार्गका लक्ष्य है और उससे अशब्दमें स्थिति मानी जाती है।

परमेश्वर पञ्चमुख और आप पञ्चमुख; किंतु एक अन्तर है। परमेश्वरमें बाह्याभ्यन्तरका भेद नहीं होता। उनमें इन्द्रिय-अन्तःकरणका भेद नहीं। वे सच्चिदानन्दघन हैं। आपकी इन्द्रियोंके और आपके मध्य मन बैठा है। यह मन ही बन्धन-मुक्तिका हेतु है।

आप परमेश्वरके पुत्र। इन्द्रियोंमें आसक्ति है नहीं। जो विषय आया—इन्द्रियोंने उसे प्रकाशित कर दिया। मनमें आसक्ति है। वह इन इन्द्रियोंके मुखसे प्राप्त विषयोंका भोक्ता बन गया है और 'यह लाओ! यह मत लाओ! की हाय-हायमें पड़ गया है। यह मन इन्द्रिय-लोलुपता छोड़े और अन्तर्मुख हो—अपने भीतर विराजमान पञ्चमुख परमेश्वरकी ओर देखे तो आप मुक्त हैं।'

मन ऐसा करे कैसे?

विवेकजन्य वैराग्य और अभ्यास—परमेश्वरके चरणोंमें लगानेका—

निरन्तर अथक अभ्यास—साधन तो शास्त्र यही बतलाते हैं।

भगवान् पञ्चवक्त्र हैं तो दशभुज एवं दशपञ्चनेत्र भी तो हैं। उन्हें दीखता है कि शिशु कितना अवश है। उनकी भुजाएँ दसों दिशाओंमें फैली हैं, वे समर्थ स्वयं उठा ले सकते हैं अपने अंकमें।

शिशु अंकमें आनेको मचलता नहीं, केवल यही कमी है। खिलौनोंमें मग्न शिशु खिलौने फेंककर मचल उठे—मचलना तो इसीको पड़ेगा। इतना तो इसे करना है।

'पाहि मापन्नमीश!'

इतना पुकारना तो है आपको!

आशुतोष

यो ददाति सतां शम्भुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।
खलानां दण्डकृद्योऽसौ शङ्करः शं तनोतु मे॥

(रा०च०मा० ६।३ मं०)

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

'दानी कहुँ संकर सम नाहीं।'

(विनयपत्रिका ४)

भगवान् गंगाधरके समान उदार दानी कहाँ मिलेगा—ऐसा दानी, जो वरदान देकर स्वयं संकटमें पड़ जाय। वृकासुर (भस्मासुर)-के तपसे आप सन्तुष्ट हुए तो उसने वरदान माँगा—'जिसके सिरपर मैं हाथ रख दूँ, वह भस्म हो जाय!'

दुष्ट असुरके मनमें पाप है—उसकी कुदृष्टि भगवती उमापर है, क्या यह सर्वज्ञको ज्ञात नहीं था? किंतु उन्हें यह भी ज्ञात था कि उमा जब क्रुद्ध होती हैं—महाकाली हो जाती हैं और तब समस्त सुरासुर उनके खप्परकी अग्निमें भस्म हो जाते हैं। उन निखिलेश्वरीके लिये आशंकाका कारण कभी उत्पन्न नहीं हुआ। रही अपनी बात—अपने लिये आशुतोष किसीको 'ना' करें, यह कैसे सम्भव है। उन्होंने जानते-समझते उस असुरको 'एवमस्तु' कह दिया।

असुर अपने वरदाताके मस्तकपर ही हाथ रखनेके लिये झपट पड़ा। भागे भोलेनाथ; क्योंकि स्वयं अपना वरदान मिथ्या किया नहीं जा सकता और जिसे एक बार स्नेहपात्र स्वीकार कर लिया, उसपर भला त्रिशूल कैसे उठाया जा सकता है।

'ये तो भाँग छाने रहते हैं।' लीलामय श्रीहरि ब्रह्मचारी बनकर आ गये वृकासुरके सम्मुख और बोले—'असुरेश! तुम इतने बुद्धिमान् होकर इन श्मशानवासी औघड़की बातपर विश्वास कैसे कर बैठे? इतनी दौड़-धूपकी क्या आवश्यकता? इनके वरदानकी परीक्षा करनी है तो अपने

सिरपर हाथ रखकर कर लो! भला, कोई नशेमें रहनेवाले फक्कड़पर भरोसा करता है!'

वृकासुरको तो मरना था। महापुरुषकी अवमानना करके ही किसीकी कुशल नहीं होती, वह तो महेश्वरका अपमान कर रहा था। उसकी बुद्धि तो पहले ही भ्रष्ट हो चुकी थी। उसने चौंककर अपने सिरपर हाथ रखा और भस्म हो गया।

× × ×

बाणासुर अपनी सहस्र भुजाओंमें नाना वाद्य लेकर नाचता हुआ स्तुति करने लगा तो प्रसन्न हो गये आप और बोले—'वरदान माँगो।'

'आप मेरे नगर-रक्षक बन जाइये!' असुरने यह भी चिन्ता नहीं की कि त्रिभुवनके स्वामीको मैं अपना सेवक बना रहा हूँ।

'एवमस्तु'—दूसरी बात कहना ही नहीं आता भगवान् चन्द्रमौलिको! आप असुरके नगरपाल बन गये। कैलासका एकान्तवास गया और समाधि भी गयी। हाथमें त्रिशूल लिये नगररक्षा करते रहो। कबतक? कुछ पता नहीं।

'मेरी भुजाएँ खुजला रही हैं। कोई समबल योधा मिलता नहीं। आप ही समबल दीखते हैं।' उद्धत बाणासुरने एक दिन युद्ध करनेकी ही चुनौती नगरपाल बने अपने इष्टदेवको दे दी।

'मेरे समान शूर तुम्हें मिल जायगा।' भगवान्ने त्रिशूल नहीं उठाया। जिसपर अनुग्रह किया, उसका अनिष्ट स्वयं अपमान सहकर भी करना उनको स्वीकार नहीं था।

बाणासुरको तब वह शिव-समबल योद्धा मिला, जब द्वारकाकी नारायणी सेनाने शोणितपुरको घेर लिया और पांचजन्यका घोष करके जब द्वारकानाथने अपने शार्ङ्गधनुषपर बाण चढ़ाया, स्वयं पिनाक लिये नीलकण्ठ आश्रित असुरकी रक्षाके लिये अपने ही दूसरे स्वरूप—अपने हृदयधनसे युद्ध करने आ गये। अकेले नहीं, पूरे परिवार और गणोंके साथ भगवान् रुद्र बाणका

पक्ष ले रणभूमिमें उतरे।

भूत-प्रेत शार्ङ्गधन्वाके नामसे भागते हैं। हलधर जब अपना मुसल उठायें, कोई दो क्षण भी सम्मुख टिक नहीं सकता। दिव्यास्त्रोंकी झड़ी परस्पर टकराती रही और अन्तमें द्वारकाधीशने जृम्भणास्त्रसे भूतनाथको निद्रित कर दिया। अब उठा चक्र और उसने बाणासुरकी उन भुजाओंको छाँटना प्रारम्भ किया, जिनके गर्वपर उसने गंगाधरका अपमान किया था।

'यह मेरा है। मैंने इसे अभय दिया है। आप मुझपर अनुग्रह करके इसकी रक्षा करें।' तन्द्रासे जागते ही आशुतोषने देख लिया कि अमोघ चक्र चल चुका है और उसका वारण तो उसका प्रयोक्ता ही कर सकता है। बाणासुरके लिये वे स्वयं प्रार्थना करने पहुँच गये।

'आपका जो है, वह मेरा है।' चक्रधारी हँस पड़े। 'किंतु अब यह आपका गण होकर रहेगा। आप इसके पुरपाल नहीं, इसके स्वामी!'

बाणको प्राणदान ही नहीं मिला, उसे अभिमानसे मुक्ति मिली और शाश्वत शिवगणत्वकी प्राप्ति हुई।

× × ×

अमृत चाहिये देवता तथा असुरोंको। क्षीरोदधिका मन्थन करनेसे पूर्व किसीने सोचातक नहीं कि अमृत जहाँ होगा, वहाँ विष भी हो सकता है। सबको सदा उद्योगके प्रारम्भमें सफलताके ही स्वप्न आते हैं। समुद्र-मन्थनके फलस्वरूप सबसे प्रथम प्रकट हुआ हलाहल विष। वह वायुसे छितराने लगा। सबके प्राण संकटमें पड़ गये।

'प्रभो! अब आप ही अपनी प्रजाकी रक्षा कर सकते हैं।' प्रजापतियोंने कैलास पहुँचकर पुकार की।

अमृतकी आशामें उद्योग प्रारम्भ करते समय किसीने पूछा नहीं था, किसीको शंकरजीकी सम्मति लेना आवश्यक नहीं लगा था; जब विषकी ज्वाला उठी, सब पुकारने पहुँच गये।

'डरो मत!' जब कोई पुकारने पहुँचे, समर्थ दयाधाम उस आर्तको

अभय देनेसे पीछे हट सकता है? अपने बच्चोंको जगत्पिता अभय नहीं देगा? विश्वनाथ उठ खड़े हुए। फैले हुए विषको उन्होंने समेटा और उठाकर पी गये। कण्ठमें स्थापित कर दिया उसे।

भगवान्‌का विषसे नीला पड़ गया कण्ठदेश—वह तो शरणागतके लिये परमाश्वासन है। अपने चरणोंमें आये आर्तके लिये वे भव-विष पी जानेको सदा उद्यत हैं। उन नीलकण्ठके सम्मुख पहुँचकर कोई भीत, दुःखित रह नहीं सकता।

× × ×

'प्रभु! मेरे पूर्वजोंका उद्धार गंगाजलके बिना सम्भव नहीं है।' तपसे सन्तुष्ट होकर चन्द्रमौलिने दर्शन दिया तो भगीरथने प्रार्थना की।

'गंगा तो सृष्टिकर्ताके कमण्डलुमें हैं, वत्स!' भोलेबाबा सहजभावसे कह रहे थे।

'वे धरापर आनेको प्रस्तुत हैं; किंतु उनका वेग धरित्री सहन नहीं कर सकती।' भगीरथने अपनी कठिनाई निवेदन की।

'तुम उनको अवतीर्ण होनेको कहो!' आशुतोषने समाधान कर दिया। 'मैं उनको—उनके वेगको सम्हाल लूँगा! वे विष्णुपदी मेरे मस्तकपर पधारें।'

भगीरथके लिये वे मृड गंगाधर बन गये। उन्होंने सदाके लिये गंगाजीको अपने मस्तकपर धारण कर लिया। धरापर गंगाकी एक सूक्ष्म धारा उनकी अनुकम्पासे आ सकी।

× × ×

'यह बालक अल्पायु है।' बड़ी तपस्यासे तो ऋषि मृकण्डके पुत्र हुआ; किंतु ज्योतिर्विदोंने उस शिशुके लक्षण देखकर ऋषिके हर्षको चिन्तामें परिवर्तित कर दिया। उन्होंने उसी दिन बतला दिया—'इसकी आयु केवल बारह वर्ष है!'

'देवि! चिन्ता मत करो। विधाता जीवके कर्मानुसार ही आयु दे सकते हैं; किंतु मेरे स्वामी समर्थ हैं।' मृकण्डने पत्नीको आश्वस्त किया—

'भाग्यलिपिको स्वेच्छानुसार परिवर्तित कर देना भगवान् शिवके लिये विनोदमात्र है।'

ऋषि मृकण्डके पुत्र मार्कण्डेय बढ़ने लगे। शैशव बीता और कुमारावस्थाके प्रारम्भमें ही पिताने उन्हें शिवमन्त्रकी दीक्षा तथा शिवार्चनकी शिक्षा दी। पुत्रको उसका भविष्य बताकर समझा दिया कि पुरारि ही उसे मृत्युसे बचा सकते हैं।

माता-पिता तो दिन गिन रहे थे। बारह वर्ष आज पूरे होंगे। मार्कण्डेय मन्दिरमें बैठे हैं रात्रिसे ही और उन्होंने मृत्युंजयकी शरण ले रखी है—

'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।' (शु० यजु० ३। ६०)

सप्रणव बीजत्रय-सम्पुटित महामृत्युंजय-मन्त्र चल रहा है।

काल प्रतीक्षा नहीं करता। यमराजके दूत समयपर आये और संयमनी लौट गये। उन्होंने अपने स्वामीसे निवेदन किया—'हम मार्कण्डेयतक पहुँचनेका अपनेमें साहस नहीं पाते।'

'मृकण्डके पुत्रको मैं स्वयं लाऊँगा।' दण्डधर यम महिषारूढ़ हुए और उन्हें कितने क्षण लगने थे चिन्तित स्थलपर उपस्थित होनेमें। बालक मार्कण्डेयने उन कज्जलकृष्ण, रक्तनेत्र पाशधारीको पाश उठाते देखा तो सम्मुखकी लिंगमूर्तिसे लिपट गया।

'हुम्!' एक अद्भुत अपूर्व हुंकार और मन्दिर, दिशाएँ जैसे प्रचण्ड प्रकाशसे चकाचौंध हो गयीं। शिवलिंगसे तेजोमय त्रिनेत्र गंगाधर चन्द्रशेखर प्रकट हो गये थे और उन्होंने त्रिशूल उठा लिया था। 'तुम मेरे आश्रितपर पाश उठानेका साहस करते हो?'

'मैं आपका सेवक!' डाँट पड़नेसे भी पूर्व ही यमने हाथ जोड़कर मस्तक झुका लिया था। वे अत्यन्त नम्र स्वरमें बोले—'कर्मानुसार जीवको इस लोकसे ले जानेका निष्ठुर कार्य प्रभुने इस सेवकको दिया है।'

'यह संयमनी नहीं जायगा! इसे मैंने अमरत्व दिया!' मृत्युंजय प्रभुकी

आज्ञाको यमराज अस्वीकार कर सकते थे? उनको लेकर महिष लौटा जा रहा है, मार्कण्डेयने यह देख लिया।

'उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।'

'वृन्तच्युत खरबूजेके समान मृत्युके बन्धनसे छुड़ाकर मुझे अमृतत्व प्रदान करें।' मन्त्रके द्वारा चाहा गया वरदान उनको सम्पूर्णरूपसे उसी समय प्राप्त हो गया।

भाग्यलेख—वह औरोंके लिये अमिट होगा; किंतु आशुतोषके आश्रितोंके लिये भाग्यलेख क्या? भगवान् ब्रह्मा—भाग्यविधाता स्वयं भगवती पार्वतीसे कहते हैं—

बावरो रावरो नाह भवानी।

× × ×

जिनके भाल लिखी लिपि मेरी सुखकी नहीं निसानी।
तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी॥

(विनयपत्रिका ५)

आक-धतूरेके फूल, बिल्वपत्र और जल—इतनी सीधी-सी पूजा पर्याप्त है भगवान् आशुतोषके लिये और उनका दरबार सबके लिये खुला है। अधिकारी-अनधिकारीका कोई प्रश्न नहीं है। देव-दानव, मानव-राक्षस—सब उनकी सेवा कर सकते हैं और सब उनकी कृपा प्राप्त कर सकते हैं।

जो श्मशानमें या पर्वतपर वृक्षके नीचे रहता है, उसके समीप पहुँचनेमें अवरोध कहाँ? जो भूत-प्रेत-पिशाचोंको अपना गण बनाकर साथ रखता है, उसकी सेवामें अधिकारीका प्रश्न कैसा और जो धतूरे, बिल्वपत्र तथा भस्मसे संतुष्ट है, उसकी आराधनामें श्रम कहाँ? उस विश्वनाथको केवल हमारी प्रणति चाहिये। वह आशुतोष तो नित्य सुप्रसन्न है।

अर्द्धनारीश्वर

भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥
(रा०च०मा० १। २ श्लोक)

भवानी श्रद्धा और भगवान् शिव विश्वास! आप श्रद्धा-विश्वासके मध्य कहीं सीमा-रेखा बना सकते हैं? ये परस्पर अभिन्न हैं।

गौरव-बुद्धि-समन्वित विश्वासका ही नाम 'श्रद्धा' है और अविचल श्रद्धाका ही नाम 'विश्वास' है।

आजकल लोग अन्धश्रद्धा-अन्धविश्वासका नाम लेकर नाक-भौं चढ़ानेमें अपनी श्रेष्ठता मानते हैं, किंतु समझदार इतने हैं कि जानतेतक नहीं कि श्रद्धा या विश्वास कहते किसे हैं।

यदि आप जानते हैं कि यह बात ऐसी है, इस वस्तु या व्यक्तिमें यह गुण, यह विशेषता है, तो आप अपनी जानकारीको मानते हैं। इसमें श्रद्धा या विश्वासका प्रश्न नहीं है। यदि आप नहीं जानते कि इस वस्तु या व्यक्तिमें यह गुण-यह विशेषता है या नहीं, किंतु आपने ऐसी बात किसी विश्वस्त व्यक्तिसे सुनी है, पढ़ी है, इसलिये मानते हैं, तो आप श्रद्धा करते हैं, आप विश्वास करते हैं।

जानकर मानना ज्ञानको मानना है, बिना जाने सुन या पढ़कर मान लेना श्रद्धा एवं विश्वास है। इसमें 'अन्ध' विशेषण लगाना अज्ञानताके अतिरिक्त कुछ नहीं।

समस्त सृष्टि श्रद्धासे व्यक्त हुई। भवानी—माया ही सृष्टिकी मूलहेतु हैं और समस्त ज्ञान विश्वाससे व्यक्त होता है। ये श्रद्धा-विश्वास नित्य अभिन्न हैं। महाकवि कालिदास कहते हैं—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥
(रघुवंश १। १)

कोई उसे परमतत्त्व 'पार्वती-परमेश्वर' कहते हैं, कोई 'लक्ष्मी-

नारायण' कोई 'राधा-कृष्ण' और कोई 'सीता-राम'। गोस्वामी तुलसीदासजी महाकवि कालिदासकी बात अपने ढंगसे कहते हैं—

गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदउँ सीता राम पद जिन्हहि परम प्रिय खिन्न॥

(मानस १।१८)

वाणी और उसका अर्थ, जल और लहर—ये नाम दो हैं—इसी प्रकार वह मूल सच्चिदानन्द तत्त्वशक्ति-शक्तिमान् रूपमें होनेपर भी नित्य अभिन्न है।

'याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरम्॥'

आप जप-तप आदि साधन करके सिद्ध हो सकते हैं। सिद्धियोंकी प्राप्ति तो औषधिसे हो जाती है।

'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।'

(योगदर्शन ४।१)

कुछ लोग जन्मसिद्ध होते हैं। सामान्य मनुष्योंकी अपेक्षा जन्मसे ही उनमें कुछ अधिक शक्तियाँ होती हैं। तपस्यासे, मन्त्रद्वारा अथवा मनकी एकाग्रतासे सिद्धि-शक्ति-विशेष प्राप्त करनेकी प्रथा प्राचीन कालमें थी। आज विज्ञान औषधिसे सिद्धियोंको सुलभ करनेमें लगा है।

महर्षि विश्वामित्रने तप करके नवीन सृष्टि करनेकी शक्ति प्राप्त कर ली थी। उन्होंने नवीन वनस्पति तथा प्राणी उत्पन्न कर दिये थे। सिद्धिका मूल जैसे तप है, वैसे ही औषधि भी है। अतः कलको यदि विज्ञान नवीन प्राणी यन्त्रसे उत्पन्न कर लेता है तो आश्चर्यकी क्या बात होनेवाली है।

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(गीता १३।६)

यह जो देहमें दृश्यमान चेतनता है, यह संघातज है और वह क्षेत्रके अन्तर्गत है। यह क्षेत्र सिद्धिके वशवर्ती है। 'सिद्धि' का अर्थ ही है—

क्षेत्रमें इच्छानुसार आविर्भाव-तिरोभाव एवं परिवर्तनकी शक्ति। अत: यह शक्ति किसीमें जन्मसे हो सकती है; कोई तप, मन्त्र या समाधिसे उसे पा सकता है तो कोई औषधिसे विज्ञानके माध्यमसे भी उसे पा सकता है।

सभी भौतिक माध्यम भौतिक उपलब्धि कर सकते हैं। फलत: सिद्धि केवल क्षेत्रमें प्रभाव उत्पन्न कर सकती है, क्षेत्रज्ञतक उसकी गति नहीं है। आप सिद्ध भले हो जायँ—यदि आपमें श्रद्धा-विश्वास नहीं है तो आपके भीतर ही जो अन्तर्यामी क्षेत्रज्ञ है, उसकी उपलब्धि आपको नहीं हो सकती। श्रुति कहती है—

'श्रद्धत्स्व सौम्य!'

श्रद्धा माता हैं—भवानी हैं। इनके गर्भसे साधक-देहका जन्म होता है और यही शिवकी गोदमें अपने शिशुको देती हैं। आस्था-विश्वास भगवान् शिव हैं। जीवका कल्याण विश्वाससे होता है। आस्थाहीनके सम्बन्धमें तो भगवान्‌ने कहा है—

'संशयात्मा विनश्यति'

(गीता)

परमात्मा अपने हृदयमें ही है, वह अपने भीतर है, किंतु मिल इसलिये नहीं पा रहा है कि आपमें श्रद्धा नहीं; और श्रद्धा नहीं तो विश्वास कहाँसे होगा। श्रद्धारहित तो विश्वास हुआ नहीं करता।

'जान लेने—प्रत्यक्ष कर लेनेके बाद विश्वास होता है।' आप यह कहते हैं? क्या और कितना जानते हैं आप? आपकी जानकारी पूर्ण है क्या?

जीवकी जितनी जानकारी है, वह सदा अपूर्ण रहती है। कहीं-न-कहीं आपकी मान्यता आपकी श्रद्धा है, जिसपर आपकी जानकारी टिकी है।

यह श्रद्धा-विश्वासका अभेद—यह भवानी-शंकरकी अर्धनारीश्वर भव्यमूर्ति—यह ध्यानमूर्ति भी है और शिक्षामूर्ति भी। इसमें सृष्टिका रहस्य

निहित है। आज प्राणिशास्त्री कहते हैं—'सृष्टिका प्रत्येक प्राणी उभयलिंगी है। पुरुषोंमें स्त्री-अवयव केवल अविकसित दशामें हैं और पुरुष-अवयव स्त्रीमें अविकसित दशामें हैं।'

पदार्थविज्ञान कहता है—'प्रकृतिके प्रत्येक अणुमें आकर्षण-विकर्षणकी दोनों शक्तियाँ एक साथ हैं। आकर्षण-कण (प्रोटोन) एवं आकर्षित कण (इलेक्ट्रोन)-से ही समस्त परमाणु बने हैं।'

शक्ति-शक्तिमान्‌का अभेद सृष्टिके अणु-अणुमें आज स्पष्ट होने लगा है और आपको आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि यदि कलको चलकर विज्ञान कहने लगे कि 'उसे अणुओंके आकारमें सर्वत्र भारतीयोंद्वारा पूजित शिवलिंग दीखने लगा है।'

साधकके लिये एक परम सन्देश है इस अर्धनारीश्वर—मूर्तिमें! यह पराकाष्ठाके संयम एवं वैराग्यकी प्रतीक मूर्ति है—

विश्वेश्वरत्वे सति भस्मशायिने
उमापतित्वे सति चोर्ध्वरेतसे।
वित्तेशभृत्ये सति चर्मवाससे
निवृत्तरागाय नमस्तपस्विने॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर हैं, किंतु शयन करते हैं भस्म पर। संग्रह-परिग्रह-विलासकी गन्ध भी समीप नहीं आने देते।

आप हैं तो अर्द्धनारीश्वर—देहका अर्धभाग ही देवीको दे रखा है; किंतु संयमकी पराकाष्ठा हैं। ऊर्ध्वरेता, मदनरिपु हैं। इतना नित्य स्थिर अविचलित एकरस संयम आदर्श है।

सेवक हैं धनाधीश कुबेर और वह भी दूर नहीं—समीप ही रहते हैं; किंतु प्रभु कटिमें गजचर्म लपेटे रहते हैं। वस्त्रतक रखना स्वीकार नहीं है उन्हें।

तपस्वी-साधक, परमार्थके जिज्ञासुमें राग—विषय आसक्तिका लेश भी नहीं होना चाहिये, इसका आदर्श उपस्थित करनेके लिये प्रभु स्वयं परम तापसरूपमें रहते हैं।

यह ध्येय मूर्ति है। आप इसका ध्यान करें और देखें कि हृदयमें श्रद्धा-विश्वास किस प्रकार अपना आसन स्थिर करने लगे हैं।

एकलोचनमेकार्धे सार्धलोचनमन्यतः।
नीलार्धं नीलकण्ठार्धं महः किमपि मन्महे॥

वामभागमें सुदीर्घ केशकलाप हैं—मणि-रत्नग्रथित और दक्षिणार्धमें कपिश जटाजूट सर्प-बन्धनसे बँधा है। ऊपर द्वितीयाका चन्द्रमा तथा गंगाकी धारा है। ललाटपर एक ओर कुंकुम-बिन्दु है और एक ओर त्रिपुण्ड। एक भागमें विशाल खंजनमंजु एक दृग है और दूसरे भागमें डेढ़ नेत्र हैं। वामांग सम्पूर्ण किंचित् नीलाभ है और दक्षिणांग कर्पूरगौर होनेपर भी कण्ठदेश नील है। यह ज्योतिर्मयी अर्धनारीश्वर मूर्ति—यह श्रद्धा-विश्वासकी अधिदेव-मूर्ति हृदयमें आये।

अनेक वैष्णवाचार्योंका मत है कि उपासना शक्ति-समन्वित शक्तिमान्की ही की जानी चाहिये। महाभावालिंगित रसराज ही मधुरोपासनाका आराध्य है। यह रसराज ही इसलिये है कि उसे महाभावने अंकमाल दे रखी है। इस बातकी अर्धनारीश्वररूप सम्यक् अभिव्यक्ति है।

परमार्थकी पराकाष्ठातक इस बातको खींचनेकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि योगकी निर्विकल्प समाधि, बौद्ध-साधनका परिनिर्वाण और अद्वैतमतके '**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म**' के समान अनेक अपवाद इसमें निकलेंगे।

'रसो वै सः।'

परमपुरुष ही रस हैं, आनन्दस्वरूप हैं वे। शक्ति उस रसके व्यक्तिकरणकी प्रक्रिया है। वे आह्लादिनी हैं। बहुत ही सरल-व्यावहारिक रूप है इनका श्रद्धा-विश्वास। साधकोंको समाश्रयण देनेवाला रूप है यह।

कथा है कि गणेशजी और स्वामिकार्तिकमें प्रथमपूज्य होनेके प्रश्नपर विवाद छिड़ गया। निर्णय किया गया कि जो पहले पृथ्वीकी प्रदक्षिणा कर ले, वह प्रथमपूज्य। षण्मुख स्वामिकार्तिक अपने मयूरपर बैठे और उड़ चले। लम्बोदर, ठिंगने चरणवाले गणेशजी मूषकपर बैठकर

यह प्रतियोगिता जीत नहीं सकते थे। उन्होंने माता-पिताको समीप बैठे देखा तो उनकी ही प्रदक्षिणा कर ली और वे विजयी घोषित किये गये।

माता-पिता भवानी-शंकर—श्रद्धा-विश्वास जिसपर सानुकूल हैं—जो इनको प्रदक्षिण रख सकता है, वह नित्य विजयी—नित्य सफल है। सर्वत्र समादरप्राप्तिका वही अधिकारी है। बुद्धिके अधिदेवता गणेशजीने सन्देश ही यह दिया—'विजय, सफलता एवं समादर चाहिये तो अपने बल-पौरुषका गर्व त्यागकर श्रद्धा-विश्वासको दाहिने करे। इन भवानी-शंकरके श्रीचरणोंकी शरण ग्रहण करो।'

नीललोहित

'**रुद्राणां शंकरश्चास्मि**' (गीता १०। २३)

'**रुद्राणां नीललोहितः**' (श्रीमद्भा० ११। १६। १३)

गीताके दशम अध्यायके 'विभूतियोग' तथा श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धके 'विभूतियोग' के वक्ता तो एक ही हैं श्रीकृष्णचन्द्र, तब इसका अर्थ है कि रुद्रोंमें नीललोहित रुद्र शंकर हैं और वही प्रमुख हैं।

'नीललोहित'—उग्रतम तामस—इतना लाल जो काला पड़ने लगा हो; यह वर्ण उनका ही है जो कर्पूरगौर हैं और यह नीललोहित ही शंकर—कल्याणकारी हैं। जीवका परम कल्याण ही उनका स्वरूप है।

'नीललोहित शंकर' ध्यान करता हूँ तो ध्यानमें क्या आता है? कोटि-कोटि रोगोंके परमाधिदेवका रूप; और बड़ा उग्र—बहुत भयानक दीखता है यह रूप। जैसे प्राण काँपते हैं।

रुद्र—रुलानेवाले ये देवता; और इनके भी एकादश रूप हैं। रोग, शोक, चिन्तादिके भेदसे जीवको संतप्त करनेवाले—रुलानेवाले कारणोंके ये अधिदेवता।

प्रचण्ड ज्वालमालाकृत त्रिशूल, भभकते त्रिनेत्र, खड़खड़ाती मुण्डमाला और कराल दाढ़ें। अपने शत-सहस्र गणोंसे अनुगत होते ये जैसे निरन्तर आघातोद्यत ही रहते हैं और इन एकादशमें भी नीललोहित—रोगोंके अधिदेव! सर्वाधिक उग्र, सर्वतः संचारी इनके प्रचण्ड चरण; और कन्हाई कहता है कि 'वह नीललोहित है!'

कृष्ण होगा नीललोहित! उसका वह विराट् रूप देखकर धनंजय काँपने लगे थे। उनकी घिग्घी बँध गयी थी। वे कहने लगे थे—

'**दिशो न जाने न लभे च शर्म**' (गीता ११। २५)

श्याम कहता है, कह सकता है—'**कालोऽस्मि;**' किंतु मयूरमुकुटी कहीं कराल होता है? तब यह भगवान् नीललोहित—इनका यह रूप?

'रुद्राणां शंकरश्चास्मि'

ये नीललोहित तो शंकर हैं—भोले बाबा हैं। इनको दूरसे देखनेपर ही ये ऐसे उग्र दीखते हैं। समीप जानेका साहस नहीं होगा तो प्राण काँपते रहेंगे। हमारे-आपके प्राण भयकातर होते हैं तो क्या आश्चर्य, प्राण तो थरथराते हैं सृष्टिकर्ता तकके।

बड़ा नटखट है बाबा नन्दका लाला। यह डराने पर उतर आता है तो फिर पूछिये मत। नृसिंह बनकर प्रकट हुआ। एक तो सिंह, ऊपरसे दैत्यराजका पेट फाड़कर आँतोंकी माला गलेमें डाल ली। पंजे, वक्ष, ग्रीवाकी केसर-सटा सब रक्तसे लथपथ और ऊपरसे अंगार-नेत्रोंसे इधर-उधर देखते हुए क्षण-क्षणमें वज्रनिष्ठुर गर्जन! देवताओं और ब्रह्माजीकी बात छोड़िये, समीप आनेका साहस नहीं हुआ सदा सेवामें रहनेवाले भगवान् नारायणके पार्षदोंका। लक्ष्मीजीने तनिक साहस किया तो आपने 'घुर' करके डरा दिया उन्हें। वे भी भाग खड़ी हुईं।

ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और इनके ये असंख्यासंख्य प्राणी—जो एक इतने अभिनय कर सकता है, इतने रूप बना सकता है, वह डरानेवाला स्वाँग ले बैठे—किसकी छातीमें मनभरका हृदय है कि वह धुक्-पुक् नहीं करने लगेगा?

'भयानां भयं भीषणं भीषणानाम्।'

सब ठीक; किंतु कन्हाई तो कन्हाई ही है। वही सुकुमार, वही करुणावरुणालय। उसका स्वाँग चलता तबतक है, जबतक आप दूर खड़े उसे देखते हैं—देखते हैं और भयसे काँपते हैं।

प्रह्लादने अभिनीत रूपको नहीं देखा। वे सीधे गये और सम्मुख प्रणिपात किया उन्होंने—बस! वही रक्ताक्त वक्ष, वही आन्त्रमाल; किंतु भगवान् नृसिंहके अंगार-नेत्र सजल हो गये। उनका गर्जन-तर्जन लुप्त हो गया। घुर वे किस कण्ठसे करते? कण्ठ तो वात्सल्य-गद्गद हो गया क्षणार्धमें। प्रह्लादको गोदमें बैठाकर जिह्वासे लगे चाटने!

आप स्वाँगको नहीं देखते और दूसरी सब ओरसे नेत्र बन्द करके समीप पहुँच जाते हैं—स्वाँगका रूप भले बना रहे, कन्हाई मुस्कराये बिना रह नहीं सकता। उसका अनन्त वात्सल्य उसे उग्र बने नहीं रहने देगा। वह आपके लिये वही परम सुकुमार, परम सुन्दर, अनन्त दयासागर दीखेगा।

'बाबा! तुम रुद्र हो? भयानक हो? डराते हो बच्चेको?' भगवान् नीललोहित ध्यान करके, उनके श्रीचरणोंपर हाथ रखकर पूछिये तो सही।

पूछिये—उनकी खड़खड़ाती मुण्डमालासे, उनके लपटें उगलते नेत्रोंसे, उनके त्रिशूलसे और फुंकार मारते सर्पोंसे डरिये मत!

'ठहरो तुम सब! तुम मुझे डरा नहीं सकते, मैं बाबाके चरणोंतक जा रहा हूँ।' बेखटके आप भूत-प्रेतोंको डाँट दे सकते हैं। कोई कुछ नहीं करेगा, कुछ नहीं कहेगा।

'ये भूत-प्रेत' आज आप इनको विष या विषाणु कह लें—बड़े भयानक हैं—देखनेमें। बड़े विनोदी हैं ये। लोगोंको डरा देना इनका विनोद है; किंतु आप बाबाका नाम लेकर इन्हें डाँट दें तो—ये आपके लिये मार्ग उन्मुक्त कर देंगे। इतना ही नहीं—आपका सम्मान करने, आपके लिये सुविधा प्रस्तुत करनेमें इन्हें विनोद प्राप्त होने लगेगा।

'बाबा! बच्चेको डराते हो तुम?' पूछकर देखिये तो सही।

बाबा भोलेबाबा हैं। उनका एक ही उत्तर सुन पड़ेगा आपको—'वत्स, तुझे किसीने भ्रममें डाल दिया है। मैं तो शंकर हूँ। मुझे तो केवल कल्याण ही करना आता है।'

शंकर और रुद्र—जो दूर हैं, जो विमुख हैं, उनको उनकी विमुखता रुलाती है और वे कहते हैं कि—'शिव रुद्र हैं।'

जो 'आनन्द' से विमुख होगा—निरानन्द, दुःखके अतिरिक्त उसे क्या मिलेगा?

जो 'चित्' से—ज्ञानसे दूर रहेगा—मूर्खताके अतिरिक्त उसके पल्ले और कुछ पड़ना है?

जो 'सत्' से दूर जायगा असत्ता-विनाश, मृत्युका मार्ग ही तो चुना है उसने।

'सच्चिदानन्द' से विमुख होकर—दूर हटकर देखनेपर लगता है, वह नीललोहित है, तमस् है, अन्धकार है और रुद्र है—बहुत रुलानेवाला है, बड़ा भीषण है।

कौन भीषण है—शंकर? भला कहीं शंकर भीषण होते हैं? उन्हें रुद्र तो बनाती है अपनी विमुखता, अपना उनसे दूर खड़े रहना।

मुझे स्मरण आता है—पैरमें गीली दाद (एक्जिमा) हो गयी थी। बहुत दवाइयाँ लगायीं। कई बार जलाया कई तीव्र ओषधियोंसे; किंतु कुछ लाभ नहीं हुआ। ओषधि लगाता तो वह दाद मिट-सी जाती और फिर ज्यों-की-त्यों। सहसा ज्वर आ गया। कई दिन तीव्र ज्वर रहा। उस ज्वरके तापमें, वह दाद भस्म हो गयी। ज्वर गया, तब कई दिन पीछे ध्यान गया कि दादका तो चिह्न भी नहीं रहा है।

संधिस्थानपर नासूर हो गया। कई महीने उसने तंग किया। परिस्थिति ऐसी नहीं थी कि कोई ठीक चिकित्सा करा सकता। मुझे जो कुछ आता है, करता रहा। अचानक ज्वर आने लगा और बहुत दिनोंतक आता रहा। लम्बी बीमारी चली। जब स्वस्थ हुआ—पूरा स्वस्थ हो गया। नासूर कब ठीक हो गया, इधर ध्यान ही नहीं जा सका ज्वरके वेगमें।

हम-आप बच्चे ही तो हैं। बहुत उत्पात करते हैं हमलोग। मुझे कोई खेद नहीं है। बच्चा क्या, जो उत्पात न करे। मुँह फुलाकर गुमसुम बैठना हो तो आप बच्चे नहीं—फिर तो आप ऋषि-मुनि, साधु-महात्मा। और ऐसे बड़े लोगोंको तो मैं प्रणाम ही कर सकता हूँ।

बच्चा तो उत्पात करेगा ही। बाबा दण्ड देगा? दण्ड देनेके लिये वह रुद्र है? दण्ड देनेके लिये उसके करोंमें त्रिशूल है? जो ऐसा समझे—वज्रमूर्ख है वह।

बाबा रुद्र है—बच्चोंको तनिक धमका देनेके लिये। उसने थोड़ी भौंहें

चढ़ा ली हैं तो हो क्या गया? त्रिशूल तो उसके हाथमें है उनके लिये, जो उसके चरणाश्रितों—उसके बच्चोंको छेड़नेका मन करते हैं।

बच्चे उत्पात करते हैं—असंयम करते हैं। शरीरमें कीचड़-गोबर पोत लेते हैं और मनमें भी जाने क्या-क्या भर लेते हैं। बाबा बच्चोंके उत्पातपर मनमें हँसते हैं। उन्हें भूत-प्रेतोंसे घिरे रहनेका अभ्यास है। उनकी शान्ति ढूँढ़नेवाली नहीं है। उनके भीतर क्षोभ नहीं हुआ करता।

बच्चोंको स्नान तो कराना पड़ेगा। जो अपने बच्चे हैं, उनकी स्वच्छताका दायित्व भी तो अपना है। बच्चे उत्पात करें—गन्दे बनें, यह उनका स्वभाव और बाबा उनको स्वच्छ करनेकी व्यवस्था करता रहे, यह बाबाका स्वभाव।

स्नान करानेमें—अन्तर्बहिः स्वच्छ करनेमें बालकको कष्ट होता है। वह रोता है। उसे गोबर-कीचड़से स्नेह हो गया है। उससे वंचित किये जानेपर वह दुःखी होता है।

बाबा रुद्र है, वह रुलाता है, यह बालककी दृष्टि है। बाबा भयंकर है, वह डाँटता है—ऐसा शिशुको लगता है।

बाबा शंकर है, यह तथ्य है। यह बाबाका स्वरूप है। यह उस नीललोहितका स्वभाव है। यह अनुभूति है, जो बाबाके समीप जाकर उसके श्रीचरणोंको स्पर्श करके, उसके श्रीमुखकी ओर दृष्टि उठा पाता है उसकी।

नीललोहित—यह दूरीसे हुआ दिग्भ्रम है। दिवाकर आपको प्रभातमें सर्वथा अरुण नहीं दीखता? दूरीका यह दिग्भ्रम मिट जायगा समीप जानेपर। वह तो वही—'कुन्द-इन्दु दर गौर सुन्दर' है।

मेरे एक मित्र कहते हैं—'तुम यह कभी श्रीकृष्ण और कभी शिवकी बात क्यों करते हो? श्रीराम एवं श्रीकृष्ण एक हैं—यह तो ठीक। तुम भगवान् नारायण तककी बात करो तो भी समझमें आवे; किंतु तुम कैलास क्यों कूद जाया करते हो?'

आपको इन मित्रकी बातमें कुछ तथ्य लगता है क्या?

भगवान् शिवकी अष्टधा मूर्ति है और गीतामें श्रीकृष्ण अष्टधा प्रकृतिको

अपनी मूर्ति कहते हैं। विष्णुसहस्रनामका पहिला नाम है—'विश्वं' और भगवान् शंकरका नाम है—'भव।' जब शरीर एक है—विराट्‌रूप एक है तो व्यक्तित्व दो हो जायगा क्या?

'कालोऽस्मि' कहनेवाला और नीललोहित बनकर त्रिशूल उठाकर उद्दाम ताण्डव करनेवाला एक ही है—इसमें आपको कोई विकल्प लगता है?

जब वह मयूरमुकुटी बनता है—उसे कन्हाई कहना अच्छा लगता है। जब वह त्रिनयन गंगाधर होता है—'बाबा' बन जाता है। लेकिन उसे अपना बनाये रखिये। समीप रहिये तो वह शंकर है, दूरसे देखेंगे तो वह रुद्र ही दीखेगा।

नटराज

मही पादाघाताद् व्रजति सहसा संशयपदं
पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्।
मुहुर्द्यौर्दौःस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा
जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता॥

(शिवमहिम्नःस्तोत्र १६)

'नटराजके रूपमें नृत्य करते समय आपके चरणोंकी चोटसे पृथ्वी सहसा पातालमें धँसनेको हो जाती है, अन्तरिक्षलोकमें आपकी परिघ-जैसी भुजाओंके चालनसे ग्रहगण पीड़ित होने लगते हैं। आपकी चंचल जटाओंके प्रहारसे तटोंके निरन्तर प्रताड़ित होते रहनेके कारण स्वर्ग-लोककी स्थिति संकटापन्न हो जाती है। प्रभो! यह कैसी विडम्बना है कि आप यह नृत्य करते तो हैं जगत्‌की रक्षाके लिये, परंतु इसका परिणाम होता है उल्टा। आपकी विभुता भी विपरीतगामिनी है।'

आपका चित्त चंचल है? उसे आप एकाग्र नहीं कर पा रहे हैं? अच्छा, उसे चंचल रहने दीजिये। उसकी चंचलताको साधन न बनाया जा सकता हो, ऐसी तो कोई बात नहीं है।

आप चाहे नटनागरका ध्यान कीजिये अथवा नटराजका—चित्तकी चंचलता सार्थक हो जायगी।

कर्पूर-गौर चतुर्भुज श्रीमूर्ति! किंतु यह श्रीमूर्ति कितनी बड़ी? इसके ध्यानसे पूर्व इसके आकारको तो मनमें आना चाहिये।

देखिये, प्रकाशकी गति आजके वैज्ञानिक एक सेकण्डमें लगभग तीन लाख किलोमीटर मानते हैं। यह प्रकाश एक वर्षमें जितनी दूर चलता है, उस दूरीका नाम एक 'प्रकाशवर्ष' है।

यह आप जो आकाशमें दूधिया पथ देखते हैं, जिसे हम-आप 'आकाशगंगा' कहते हैं, वैज्ञानिक इसे 'नीहारिका-मण्डल' कहते हैं। इसमें कई करोड़ तारे हैं और वे सब-के-सब सूर्य हैं। इनमें अपने सूर्यके सबसे

निकट जो सूर्य (तारा) पड़ता है, वह पृथ्वीसे चार सौ प्रकाशवर्ष दूर है। कुछ तारे (सूर्य) तो पृथ्वीसे लाखों-करोड़ों नहीं, कई अरब प्रकाशवर्ष दूर हैं।

दूरीकी बात यहीं नहीं समाप्त होती। इस देवयानी नीहारिका-मण्डलके पार दूसरा नीहारिका-मण्डल है। इस प्रकार एकके पीछे दूसरा—अबतक बीससे अधिक नीहारिका-मण्डल यन्त्रोंकी सहायतासे देखे जा चुके हैं और वैज्ञानिक कहने लगे हैं—'यह क्रम अनुमानसे परे है, अनन्त है।'

भगवान् नटराज जब नृत्य करने लगते हैं—उनकी जटाओंके कशाघातसे ये तारे—ये कोटि-कोटि सूर्य अस्त-व्यस्त हो उठते हैं। कितना विस्तीर्ण है उन देवदेवका यह सगुण श्रीविग्रह—कल्पनाके पद थक जाते हैं। मनकी चंचलता शान्त हो जाती है।

अनन्त नन्हें अन्तरमें नहीं आया करता। अच्छा, जितना-जैसा आ सके, उतना-वैसा ही ध्यान कीजिये।

कर्पूरगौर श्रीअंग विभूतिमण्डित है। अरुण कमल-कोमल चरण चंचल हो रहे हैं। ताण्डवकी गतिसे चरण उठ और गिर रहे हैं और उनके प्रत्येक आघातसे लगता है कि पृथ्वी अब चूर्ण हुई—अब फूटा ब्रह्माण्ड-घट।

कोटि-कोटि चन्द्रोंकी-सी ज्योत्स्ना उस दिव्य अंगसे झर रही है। कटिका व्याघ्रचर्म नागपाशसे जकड़ा है। कण्ठकी नीलिमा अपूर्व झलक दे रही है। करोंमें सर्पोंके कंकण और त्रिशूल, डमरू तथा खप्पर सुशोभित हैं—धधकता खप्पर विद्युज्ज्योतिःपुंज त्रिशूल और गुरु-गम्भीर नाद करता डमरू। श्रुतियोंके स्वर तथा सम्पूर्ण कलाओं एवं विद्याओंके मूलसूत्र डमरूकी ध्वनिसे मूर्तिमान् होते जा रहे हैं।

त्रिशूल उठता है तो शत-शत तारक अस्त-व्यस्त हो जाते हैं। खप्परकी ज्वाला गगनको अग्निवर्ण बनाये दे रही है और डमरूकी ध्वनि—जैसे सम्पूर्ण विद्याएँ आज जन्म पाकर सार्थक हो गयीं।

तृतीय भालनेत्र स्थिर, बन्द है। शेष दोनों दृग् अर्धोन्मीलित हो रहे हैं।

कपिश जटा-कलाप नृत्यके वेगमें लहरा रहा है—लहराता जा रहा है और अपनी लपेटमें शत-सहस्र तारकोंको इधर-उधर फेंकता जा रहा है।

झर रही है भालचन्द्रकी अमृत-ज्योत्स्ना और उमड़ी पड़ रही है सिरसे भागीरथीकी धारा। वह दिव्य धारा दिशाओंको धो रही है। पावन हो रहे हैं उसके सीकरोंसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-मण्डल!

नृत्य चल रहा है नटराजका। यह ध्येयमूर्ति है देवाधिदेवकी। इसका ध्यान कीजिये और देखिये कि चित्तकी चंचलता स्वत: स्तब्ध होती है या नहीं।

यह नृत्य ध्वंसके लिये नहीं है। यह नृत्य है जगद्रक्षाके लिये। यह प्रलयंकरका ताण्डव नहीं है, यह नटराज शंकरका ताण्डव है। इसमें यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंका अस्त-स्रस्त-भाव—यह तो विभुकी क्रीड़ा है।

इसी नृत्यके वेगपर अणु-अणु नृत्य कर रहा है। इसी नृत्यके वेगसे ग्रह-नक्षत्र-तारे—सब चक्कर काट रहे हैं। यह कभी हुआ या होगा, ऐसा नृत्य नहीं है। यह नृत्य तो चल रहा है—आज और अब भी चल रहा है।

जगद्रक्षाके लिये यह नृत्य न चले, प्रकृति गतिहीन हो जायगी और गतिहीनताका अर्थ है—महाप्रलय। गति ही जीवन है, यह आप जानते हैं। जीवन—चेतना सृष्टिको मिलती है अपने परम अधिदेवके महानृत्यसे।

भगवान् शंकरका नृत्य चल रहा है। बज रहा है उनका डमरू और उससे निरन्तर विद्याओंके मूलसूत्र ध्वनित हो रहे हैं। गूँज रही है वह अनाहत परावाणी। उसे अपने अन्तरमें जो श्रवण कर पाता है, उसका द्रष्टा ही तो ऋषि है।

निखिलकलादिगुरुका यह नृत्य! इसका ध्यान करें आप और आप स्वयं अनुभव करेंगे कि अभीष्ट कला अथवा विद्या आपके चित्तमें अकल्पनीय रूपसे उद्भासित हो उठी है। इससे अधिक आश्वासन कलाके उपासकके लिये और क्या हो सकता है।

आप अन्त:करणकी शुद्धि चाहते हैं? नटराजका ध्यान कीजिये। ध्यान

कीजिये ताण्डवरत उनके अरुण चरणोंका और उनके नखोंसे निःसृत ज्योत्स्नाका। ध्यान कीजिये धू-धू धधकते खप्परका और डमरूकी गुरु-गम्भीर ध्वनिका। ध्यान कीजिये विद्युत्‌के समान चमकते-घूमते त्रिशूलका और लहराती कपिशवर्णा जटाओंमें फुंकारते नागोंका। दिशाओंका तमस् दूर करती सुकोमल चन्द्रज्योत्स्ना और जगतीके मलको धोती गंगाकी धाराका ध्यान कीजिये।

आपका अन्तःकरण धुल जायगा। मनोमल खप्परकी ज्वालामें भस्म हो जायगा। हृदयके दोष श्रीचरणोंके नीचे पिस उठेंगे और उज्ज्वल ज्योति वहाँ निखर उठेगी।

स्थिरका ध्यान—निर्विकार प्रशान्त ज्योतिका ध्यान करते हैं शान्त-मानस, निर्मल-मन योगीजन। यदि मन विकारी है, चंचल है तो कहा किसने कि आप स्थिर ज्योतिका ध्यान करें। आप चिरचंचल कन्हाईका या निरन्तर नृत्यरत नटराजका ध्यान क्यों नहीं करते? चंचलके साथ चंचलकी पटती है और ऐसी पटती है कि मन इनका होकर रह जाता है।

बात बहुत पुरानी है। तब शरीर युवा था और मनमें उत्साहकी यह दशा थी कि ऊधममें आनन्द आता था। श्रीबदरीनाथजीकी यात्रा करके लौट रहा था। तब राजपथ केवल देवप्रयागतक बना था। पैदल यात्रा थी। चमोलीमें मध्याह्न-विश्राम करके चलना था।

'आज अंधड़ आयेगा। पत्थर गिरेंगे। अब सायंकालीन यात्रा आज नहीं होगी।' कुलियोंने कहा।

हिमालयमें जब आँधी आती है, अनेक स्थानोंपर पहाड़से नन्ही कंकड़ियोंसे लेकर मनों भारी पत्थर लुढ़कते हैं। वे तोपसे छूटे गोलोंके समान वेगसे गिरते हैं। चीड़के पेड़ टूटकर या जड़से उखड़कर गिरते हैं।

वाराणसी जिलेमें जन्म क्या हुआ—लगता है कि बाबा विश्वनाथके घरका बालक हूँ। आप इसे दोष नहीं कह सकते। मैं तो निमन्त्रण देता हूँ—आप भी कोई सम्बन्ध बना लें इन भोलेबाबासे, तो वे ठहरे भोले—उन्हें

कहाँ अस्वीकार करना आता है।

'नहीं—यात्रा रुकेगी नहीं। रात्रिमें अगली चट्टीपर रुकेंगे।' मैंने कुलियोंको डाँट दिया और छड़ी उठाकर चल पड़ा। मनमें एक खुराफात आ गयी थी—'ये नगाधिराज पार्वती-पिता अपने नानाजी ही तो हैं। इनको सोते तो कई दिनसे देख रहा हूँ। इनका जाग्रत् रूप कैसा होता है?'

मेरे साथ एक ही मित्र सहयात्री थे। कुली अनुभवी थे। वे सामान बाँधकर भी चले नहीं, रुक गये वहीं। आँधी आयी चमोलीसे मील सवा मील चलनेपर। धूलि और कंकड़ियोंकी बौछार बार-बार नेत्र बन्द करनेको बाध्य करती थी और तब हमें खड़े हो जाना पड़ता था। पर्वतमें हवा इधर-उधर टकराती है। वायुवेग सामनेसे आता तो हम नेत्र बन्द करके खड़े हो जाते और वेग दूसरी ओर होता तो चलने लगते।

आँधीका वेग बढ़ा। छोटे पत्थर लुढ़कने लगे। वे मित्र डरे। संयोगवश एक बाहर निकली शिला मिल गयी। उसके नीचे वे बैठ गये।

'नानाजी जाग गये!' मेरा मन अपनी धुनमें था। पैर चलते रहे। छोटे-बड़े पत्थर, चट्टानेंतक धड़ाधड़ गिरने लगीं। वृक्ष भी उखड़कर गिरे; किंतु नानाजीकी गोदमें दौहित्रको भय होता है?

उन दिन अनुभव हो गया कि युद्धस्थलमें, जहाँ तोपोंसे गोले बरसते होंगे, पत्रकार और सैनिकोंका चलना-फिरना कैसे होता होगा? अवश्य यह अन्तर था कि मैं भाग-दौड़ नहीं रहा था। मैं चल रहा था और वायुका वेग सामनेसे आता तो नेत्र हाथोंसे बन्द करके खड़ा हो जाता था।

कोई चमत्कार नहीं था यह। कोई अद्भुत बात भी नहीं। आप नटराजका ध्यान करके देखें—कुछ दिन ध्यान करें और प्रचण्ड नृत्यवेग, टूटते-गिरते शत-शत सूर्यमण्डल आपके चित्तको क्षुब्ध करनेमें असमर्थ हो जायँगे।

भय नहीं, क्षोभ नहीं, उद्विग्नता नहीं। एक अकेले महादेव डमरू बजाते, त्रिशूल उठाये आनन्दमग्न नृत्य कर रहे हैं—यह ध्यान आपकी सब दुर्बलताओंको ध्वस्त कर देगा।

दिशाएँ क्षण-क्षण काँपती हैं। धरा डगमग होती है। पवनकी गति भी स्थिर है। समस्त ब्रह्माण्ड जैसे एकलय, एकतान, एकप्राण हो रहा है नृत्यकी गतिसे। दूसरा शब्द नहीं, दूसरी गति नहीं, दूसरा कम्पन नहीं।

इस नटराज-राजकी नृत्य-गतिमें मन-प्राणको एक हो जाने दीजिये। मुक्ति और क्या है—इन परम पुरुषसे तादात्म्य। तादात्म्य तो वे स्वतः कर लेंगे—आप तो ध्यान कीजिये उनका। अपने हृदयांगनमें उनको नृत्य करने दीजिये।

जटाकटाहसम्भ्रमभ्रमन्निलिम्पनिर्झरी-
विलोलवीचिवल्लरीविराजमानमूर्धनि ।
धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षणं मम॥

'जटाओंके कटाहमें मार्ग न मिलनेसे चक्कर काटती हुई देवनदी गंगाकी चंचल लहरियोंसे जिनका मस्तक सुशोभित है, जिनके ललाट-प्रदेशमें स्थित तृतीय नेत्रमेंसे धक्-धक् करती हुई अग्निकी ज्वालाएँ निकल रही हैं तथा जो नवीन चन्द्रमाको शिरोभूषण बनाये रहते हैं, उन चन्द्रचूड भगवान् शंकरमें मेरा प्रतिक्षण प्रेम हो।'

वह जटाओंसे शत-सहस्र धाराओंमें झरती गंगाकी भुवन-पावनी धारा और वह धू-धू धधकता करका खप्पर—सम्भव है कि मनमें यह मूर्ति आये और मनोमल अवशिष्ट रह जाय?

'बड़ी उग्र मूर्ति है!' मेरे एक मित्रने कहा! कोमलहृदय इसका ध्यान नहीं कर सकता तो नटराजकी एक कोमल मूर्ति है। कन्हाई भी तो यही हैं। यमुनाह्रदमें शतैकशीर्षा कालियके फणोंपर नृत्य करते हुए श्यामका ध्यान कर लें आप। नटराजके ध्यानका ही फल देगा यह ध्यान भी।

प्रलयंकर

यस्त्वन्तकाले व्युप्तजटाकलापः
स्वशूलसूच्यर्पितदिग्गजेन्द्रः।
वितत्य नृत्यत्युदितास्त्रदोर्ध्वजा-
नुच्चाट्टहासस्तनयित्नुभिन्नदिक्॥
(भागवत ४।५।१०)

जटाएँ बिखर रही हैं और नृत्यके वेगसे अपने आघातोंद्वारा तारामण्डलको ध्वस्त करती जा रही हैं। एक-एक जटाका कशाघात शत-शत ब्रह्माण्डोंको छिन्न-भिन्न किये दे रहा है।

त्रिशूल लिये कर ऊपर उठा है और उसकी नोकपर लोकधारक दिग्गजोंके निष्प्राण शरीर झूल रहे हैं। झूल रहे हैं और फटते जा रहे हैं। उनका मेद-मज्जा कण-कण बिखर रहा है।

मस्तकका गंगा-प्रवाह उमड़ रहा है। डुबाता जा रहा है सम्पूर्ण दिङ्मण्डलको। दिशाओंका अस्तित्व लुप्त हो चुका है—पृथ्वीका भला पता क्या लगना है। पता तो नहीं है सूर्य-चन्द्र एवं नक्षत्रोंका।

धू-धू धधक रही हैं सम्पूर्ण दिशाएँ। तृतीय नेत्र सम्पूर्ण खुला है और उससे प्रलयाग्निकी लपटें चारों ओर लपलपाती दौड़ रही हैं।

पता नहीं पृथ्वी कब चरणाघातसे चूर्ण हो गयी। वह दग्ध हुई और उसके धूलिकण भी निःशेष हो गये। जलमें उसकी सत्ता गयी और जलको भाल-नेत्रकी ज्वालाने शुष्क कर दिया।

वेग—प्रचण्डवेग नृत्यका, और ध्वंस हो रही है ब्रह्माण्डराशि। महाप्रलयका महानर्तक प्रचण्ड अट्टहास करता नृत्य कर रहा है। वह नृत्यलीन है—उसका उन्मद नृत्य!

'महाप्रलयके समय होता है यह महानृत्य'—ऐसी बात कही किसने? चल रहा है—निरन्तर चल रहा है यह नृत्य। तुम देखते नहीं? भय लगता है तुम्हें। अभाग्य तुम्हारा।

प्रलयंकर महाप्रलयके समय तो नृत्य करते ही हैं; किंतु इस समय भी वे समाधि लगाये बैठे नहीं हैं। अपने चारों ओर एक बार दृष्टि डालकर देखो—सृष्टिकर्ताके कर यदि तुम्हें सर्वत्र नव-जीवनका सृजन करते दीखते हैं तो प्रलयंकरके नृत्य करते—ध्वंस करते पद तुम्हें क्यों नहीं दीखते?

जीवनका क्षण-क्षण मरण वरण कर रहा है। प्रतिक्षण कण-कण छीज रहा है। अणु-अणु टूट रहा है—नष्ट हो रहा है। जीवन वेगपूर्वक किसीकी ठोकर खाकर मृत्युके मुखगह्वरकी ओर लुढ़कता जा रहा है। तुम्हें यह दीखता नहीं? अभाग्य तुम्हारा।

गर्व-अहंकार, मोह-ममता किसपर? किसके लिये? तुम अपनेको समझते क्या हो? किस गणनामें हो तुम? पृथ्वीमें तुम सबसे महान्, सबसे-धनी, सबसे सम्मानित हो?—अपनी गणना पृथ्वीमें देख लो। चलो, यह भी सही; किंतु इस अपने सौर-जगत्में—इस ब्रह्माण्डमें पृथ्वी स्वयं कितनी बड़ी है? इस अपनी देवयानी नीहारिका-मण्डलमें अपना सूर्य—अपना ब्रह्माण्ड ही कितना बड़ा है? जैसे पृथ्वीमें एक बड़ी गेंद और महाविराट्में इस नीहारिका-मण्डलका मानचित्र कठिनाईसे एक बिन्दु है। तुम कहाँ हो? कितने बड़े तुम? किसपर है तुम्हारा गर्व?

प्रलयंकर नृत्य कर रहे हैं। शत-सहस्र ब्रह्माण्ड कच्चे घड़ोंके समान चूर्ण-विचूर्ण हो रहे हैं उनके भीषण चरणाघातसे और उनकी धूलि भी सत्ता खोती जा रही है। महाप्रलयाग्निकी लपटें और हाहाकार करती सीमाहीन प्रलयाब्धिकी हिलोरें—यह कलका—कभी दूर भविष्यका दृश्य है—होगा; किंतु यह विरमित नहीं होता। सतत चल रहा है।

तुम देख रहे हो प्रलयंकरका यह नृत्य? भय लगता है? नहीं देख पाते? अभाग्य तुम्हारा। इसे देख पाते तो ध्वस्त हो जाते तुम्हारे अभिमानके समस्त खोखले स्तम्भ! गल जाते गर्वके तुहिनगिरि। तुम्हारे ममता-मोहके जाल छिन्न हो जाते।

शिवके शरीरपर विभूतिका अंगराग लगता है। तुम्हें शिव चाहिये—

कल्याणकामी हो तुम! तब उसे अलंकृत करनेके लिये विभूति तुम्हारे समीप है? विभूति प्रस्तुत करनेको उद्यत हो?

भगवान् शिव सामान्य भस्म नहीं लगाते। वे लगाते हैं चिता-भस्म। इस सम्पूर्ण सृष्टिको चिता बनाकर वे प्रलयंकर नृत्य करते हैं और तब इसकी राख उनके श्रीअंगका शृंगार बनती है।

ईश्वरकी सृष्टिमें महाप्रलय कब होगी—क्या लाभ इस गणनासे? तुमने अपना जो संसार बना लिया है, वह बना भी रहे और शिव भी आ जायँ—यह नहीं होगा। उनका—उन कल्याण-स्वरूपका आह्वान करना है तो प्रलयंकरको पुकारो! अपने इस माया-मोहके संसारकी भस्म तुम नहीं बना सकते तो उन संहारके देवताका आवाहन करो!

'आओ! आओ—हे प्रलयके अधिदेवता! देव-देव महादेव, पधारो! चूर्ण कर दो—खण्ड-खण्ड कर दो पार्थिवकी आसक्ति और इस सड़े-गले बन्धनके व्यर्थ भ्रमको!'

'पधारो महारुद्र! अपना तृतीय नेत्र पूर्ण उन्मेषित करो। उन्मुक्त करो प्रलयकी महाज्वाला और भस्म कर दो 'अहं-इदं' की समस्त परिच्छिन्न तूलराशिको! देव! क्षुद्रताके प्रपंचको शुष्क तृणके समान स्वाहा हो जाने दो!'

'महाकाल! पधारो। आओ! उद्दाम ताण्डव चपल चरणोंसे धरा-गगन ध्वस्त करते कूदो! ध्वस्त-स्रस्त होने दो अहंके सम्पूर्ण आधार एवं अम्बारोंको! तुम्हारे श्रीचरणोंकी धमक सुननेको आतुर प्राण तुम्हें पुकारते हैं—पधारो प्रलयंकर?'

पुकारोगे? पुकार सको तो परम सौभाग्य तुम्हारा स्वागत करेगा। ध्यान भी कर सको प्रलयंकरकी इस प्रचण्ड नृत्यमुद्राका तो तुम भाग्यवान्!

भय लगता है? किसका? किसके विनाशका? अमृत-पुत्र! तू तो इन प्रलयंकरका पुत्र है। तुझे भय लगता है? प्रलयाग्नि तेरे शरीरकी ऊष्मा मात्र है। प्रलय-पयोदधि केवल तेरे चरण क्षालित कर सकते हैं। तू डरता है?

हम, आप शिवकी संतान हैं—यह आप भूल गये? पिता प्रलयनृत्य करेंगे तो पुत्र उनकी गोदमें होगा। उनका उद्दाम ताण्डव शिशुको उछालनेका विनोद प्रदान करेगा। प्रलय आपके लिये शिवकी आनन्दक्रीड़ा क्यों नहीं है?

वनमें अग्नि लगा देते हैं। झाड़-झंखाड़, तृण-कण्टक जल जाते हैं, तब उस भस्ममें बहुत उत्तम अन्न उत्पन्न होता है। विनाशके—प्रलयके पद नवीन सृष्टिकी पृष्ठभूमि प्रस्तुत करते हैं।

एक इंजीनियर आये एक कोठीमें। कोठी बहुत पुरानी थी। उसके फर्शमें लगे पत्थर गलने लगे थे। भित्तियोंसे चूना ढेर-सा झड़ता था। छतकी कड़ियाँ कहीं-कहीं टूट गयी थीं। इंजीनियरने उसे इधर-उधर घूमकर देखा और चले गये।

पिछले वर्षोंमें कई बार वे इंजीनियर इस कोठीमें आये थे। कभी कोई कोना और कभी छतका कोई भाग सुधारनेको बता गये थे। उनके सुझाव माने गये थे। पुराने वस्त्रमें पैबन्द लगाने, जैसे वे सुधार थे।

तीन-चार दिनमें मजदूरोंका एक दल आ गया। इंजीनियरने उन्हें भेजा था। मजदूर पिल पड़े और 'अररधम्' कोठी टूट-टूटकर गिरने लगी। इंजीनियर बुरा था? इंजीनियरोंका काम ध्वंस है? नहीं भाई—इंजीनियरका काम नव-निर्माण है। उसके पास नवीन भवनका मानचित्र प्रस्तुत होगा। अब इस पुरातन कोठीमें और मरम्मत सम्भव नहीं लगी उसे। यह ध्वंस नवीन भव्य भवनके लिये भूमि प्रशस्त करेगा।

नवीन सृष्टिके लिये प्रलय अनिवार्य है। जीर्ण-शीर्ण शरीरको लेकर मृत्युका देवता नूतन शिशु-शरीर-प्राप्तिका पथ बनाता है।

सृष्टिमें सड़ाँद अनिवार्य है। प्रकृति विकार-धर्मिणी है। जो उत्पन्न होगा—जीर्ण होकर रहेगा। विनाश उसे नवीन बनानेका एक पुनीत प्रयासमात्र है। इसीलिये प्रलयंकर शिव हैं।

बड़े भयंकर, बड़े उग्र हैं प्रलयके देवता? अच्छा तो यह कहना होगा

कि वे अत्यन्त सदय हैं। जो हाथ आवे, उसीको पकड़कर बैठ जानेकी प्रवृत्ति प्रगतिका पथ अवरुद्ध कर देती है। आप मार्गके प्रत्येक पेड़को पकड़कर बैठ जाते हैं। जो आपको हाथ पकड़कर उठा देता है आगे चलनेके लिये वह आपको निष्ठुर लगता है; किंतु वह दयाधाम…

शैशव आपसे ले न लिया जाता—कुमार हो जाते आप? कौमार गया और उसने तारुण्यका वरदान दिया। तारुण्य गया तो वार्धक्यने सहनशक्ति दी, समझ दी, सूझ-बूझ दी। अब आप इसे कोसते क्यों हैं? आप इससे सन्तुष्ट नहीं हैं तो महादेव आपके लिये पुनः शैशवकी भूमि बनायेंगे।

यह सब क्या है? प्रलयंकरकी क्रीड़ा। उनका एक विनोद, और वह भी अपने पुत्रोंको प्रसन्न करनेके लिये। बच्चेको खिलौना दे दिया। वह खिलौना टूटा-फूटा, जीर्ण हुआ तो पटक दिया उठाकर और बच्चा रोने लगा तो दूसरा नवीन खिलौना उसे पकड़ा दिया।

आप जरा-जीर्ण शरीर पानेपर असन्तुष्ट हैं तो मृत्युका देवता इसे नष्ट कर देता है और आपको दूसरा शिशु-शरीर दे देता है। यह सम्पूर्ण सृष्टि जर्जर हो जाती है तो इसे ध्वस्त कर देता है, जिसमें इस ध्वंसपर स्रष्टा नवीन सृजन कर सके।

'बाबा! तू ये घड़े रख या तोड़, किंतु मुझे अपने श्रीचरण देखने दे! तेरे कर देह-घट बनाते हैं या ब्रह्माण्ड-घट, यह मैं नहीं देखता। इनमें कोई घट मुझे चाहिये नहीं। मुझे चाहिये तेरे करोंकी छाया। तू अपने कर रख मेरे सिरपर!'

'तू प्रलयंकर है? मैं नहीं देखता कि तेरे पदोंसे लक्ष-लक्ष देह-घट नष्ट होते हैं या ब्रह्माण्ड-घट फटाफट भड़ा-भड़ फूटते हैं। मैं तेरे अरुण-मृदुल श्रीचरणोंको नृत्य करते देखता हूँ। तू मुझे इन चरणोंपर दृष्टि रखनेकी शक्ति दे!'

'मुझे पता है, रोग और शोक—भूत और प्रेत—तेरे गण हैं। मृत्यु और काल तेरे तुच्छ किंकर हैं। तेरे गण या तेरे सेवक तेरे पुत्रका सम्मान कर

सकते हैं। उसे भीत करनेका साहस उनमें नहीं है।'

'ये तेरे गण! ये तेरे सेवक केवल घड़ोंसे खेलते हैं। ये घड़े—ये देह, जो तू बनाता-फोड़ता है, ये भी उनसे ही खेलते हैं—उनको ही तोड़ते-फोड़ते हैं। मेरा क्या बनता-बिगड़ता है इससे। ये एक फोड़ें या सौ, कल फोड़ें आ आज!'

'प्रलय कभी क्यों? वह अभी हो जाय। मृत्यु कल होती हो तो आज हो। मैं मृत्युका खिलौना नहीं हूँ कि वह मुझसे खेले और पटक दे। मैं मृत्युंजयका पुत्र। मैं महाकालकी संतान, मुझे देखकर भयको भागना चाहिये।'

'बाबा! प्रलयंकर! महाकाल! आ मैं तेरा पुत्र तुझे पुकारता हूँ। तू आ और यदि मैं कहीं-किसी खिलौनेमें उलझ रहा हूँ तो उठाकर पटक दे उस अभागे खिलौनेको। मुझे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड-घटोंको चूर्ण करते नृत्यरत अपने भी चरण देखने दे!'

जीवन और मृत्युसे छुटकारा चाहिये तो प्रलयंकरको पुकारिये! महाकालका ध्यान कीजिये। देहकी आसक्तिको ध्वंस वे महादेव ही करेंगे। यह मत भूलिये कि देहासक्ति ही सबसे बड़ा बन्धन है।

पशुपति

'पशुः पाशबद्धः।'

जो पाशसे बँधा है, वह पशु। इन पशुओंका स्वामी 'पशुपति'।

पशुपति और गोपाल—दो अर्थ लगते हैं क्या? वैसे कन्हाई ढेरों गायें चराता है और कैलासपर पशुओंके नामपर केवल दो हैं—एक भोलेबाबाका नादिया और दूसरा भगवती उमाका सिंह। आप तीन गिनना चाहें तो गणेशजीके चूहेको भी गिन लीजिये।

आप पशु हैं या नहीं? मनुष्यकी चर्चा मत कीजिये। या तो वह पाशमुक्त है या पशु है—द्विपाद पशु।

पाश?

ठीक प्रश्न है। बन्धनको समझे बिना जो लोग मोक्ष पाने चल पड़ते हैं, वे भटक जाते हैं। वे ठगे जाते हैं। बँधे बछड़ेके गलेकी रस्सी न खोली जाय और उसे शंखध्वनि सुनायी जाय, इत्र सुँघाया जाय, दीपज्योति दिखायी जाय, लड्डू खिलाये जायँ, गद्दा बिछाया जाय उसके सोने-बैठनेको। मुक्त हो जायगा वह?

कोई रूप या ज्योतिदर्शन, कोई नाद-श्रवण, कोई रसानुभव, कोई गन्ध या कोई स्पर्शानुभूति—वह ऐन्द्रियक हो या अतीन्द्रिय, विषय-संयोगज हो या दिव्य, लौकिक हो या अलौकिक, जीवको मुक्त कर नहीं सकती, यदि उसके पाश टूट नहीं गये हैं।

देहासक्ति, यश-आसक्ति, सम्बन्धासक्ति, द्रव्यासक्ति, भोगासक्ति, गुणासक्ति, ऐश्वर्यासक्ति और अहंतासक्ति—ये आठ पाश हैं। इस अष्टगुणित रस्सीसे बँधा है प्राणी। इनमें एक भी अवशिष्ट है तो वह बँधा है। आप पशु हैं या नहीं—यह आप स्वयं अनुभव कर सकते हैं।

कन्हाई 'गोपाल' है। भगवान् शंकर 'पशुपति' हैं। श्यामको अपनी गायोंसे स्नेह नहीं है—यह किसने कहा? पशुपति अपने पशुओंसे प्यार

नहीं करते, यह सोचे वह बुद्धिहीन। असीम स्नेह है उनका अपने पशुओंपर। इन पशुओंके पालन-पोषण-रक्षणको वे अपना दायित्व मानते हैं।

पशु ही तो—कभी उत्पथ दौड़ते हैं और पशुपतिको अपना लगुड़ उठाना पड़ता है। दण्ड किसीको प्रिय नहीं लगता, दण्ड सदा भयंकर होता है; किंतु अज्ञ पशुके लिये दण्ड उसका संरक्षक है। उसे सत्पथपर लानेवाला है।

पशु कहीं स्वच्छता-अस्वच्छता समझता है? इसे स्नान कराने, मलने-धोनेका काम पशुपतिका है। यह बहुत हुआ तो अपनेको थोड़ा चाट लेगा या दूसरे सहयोगीको चाटकर स्वच्छ करनेका प्रयत्न करेगा। इतनेसे कहीं स्वच्छताका सम्पादन होता है? पशुपति धोता है इन्हें। यह क्षालन स्नेह है—पशु असुविधा अथवा क्लेशका अनुभव करता है, यह अज्ञता है उसकी।

बहुत उदार, बहुत स्नेही है यह त्रिनयन पशुपति। करुणावरुणालय है गोपाल। जो पशु उसकी ओर मुखकर हुंकार करता है—उसे पुकारता है, स्वयं उसके समीप यह दौड़ जाता है। जो इसकी ओर गर्दन बढ़ाता है, उसे इसके अमृतस्यन्दी कर सहलाने लगते हैं।

पशुका दुःख है कि यह पशुपतिसे विमुख भागता-दौड़ता है। स्वयं अपने नेत्र एवं बुद्धिपर विश्वास करके जहाँ हरियाली दीखी, मुँह मारने झपट पड़ा। हरी घासकी टोहमें भटक रहा है यह और बार-बार अवरुद्ध होता है। बार-बार डाँटा जाता है।

इसको पता नहीं कि इसका पालक प्रमाद नहीं करता। इसके लिये चारे-दानेकी उसे स्वयं चिन्ता है और उसकी सम्पूर्ण व्यवस्था उसने कर रखी है। भ्रान्त पशु भटकता है—भटकता है और दुःख पाता है। पशुपति भी दण्डहस्त होकर ही तो इसे निरुद्ध कर सकता है।

पशुका सुख—यह स्वामीको अपनी हुंकृतिसे पुकार ले तो इसका

स्वामी स्वयं आ जाय इसके समीप। वह सुकोमल तृण इसके मुखमें अपने करोंसे देकर प्रसन्न हो। यह अपने पशुपतिकी ओर सिर बढ़ा दे तो उसके कर-स्पर्शका परमानन्द प्राप्त हो इसे।

मैं योगकी बात नहीं कह रहा हूँ—भोगकी ही बात कह रहा हूँ। आज मनुष्यका सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि वह न भगवान्‌पर भरोसा करता, न प्रारब्धपर और न सत्कर्मपर। वह भरोसा करता है झूठ, छल, कपट, चोरी, घूसखोरीपर। वह पापका चरणाश्रित बन गया है और कोई पापका अनुगामी बनेगा तो कहाँ जायगा? पशुपतिका दण्ड उसे रक्षाके पथपर लानेको न उठे, तो वह पशुपति ही कैसा? लेकिन पशुओंको सदा बाँधकर ही रखा जाय, ऐसा क्रूर तो वह नहीं बन सकता। इनको चरने-घूमनेकी स्वतन्त्रता एक बड़ी सीमातक उसने दे रखी है।

भोगकी—सांसारिक सुख-सुविधाकी ही बात कह रहा हूँ। गोस्वामी तुलसीदासजी अपना अनुभव बतलाते हैं—

चाटत रह्यों स्वान-पातरि ज्यों कबहुँ न पेट भर्‌यो।
सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धर्‌यो॥

कुत्तोंकी भाँति परस्पर झगड़ते, एक दूसरेको भूँकते-काटते, जूँठी पत्तलोंपर टूटे पड़ रहे हैं ये प्राणी और उन पत्तलोंमेंसे कुछ चाटनेको मिल जाय तो इनकी बड़ी सफलता।

जूँठी पत्तलें नहीं—अमृतरस पहलेसे परस रखा है तुम्हारे लिये तुम्हारे उस पशुपतिने। उसकी ओर देखो—उसके सम्मुख जाओ। और यह तुम्हारी अपनी अनुभूति बनकर रहेगी कि अभावकी सृष्टि तुम्हारे लिये संसारमें नहीं हुई। तुम्हारा सर्वसमर्थ परमोदार पालक तुम्हारे लिये सतत सचेष्ट है।

पशु-स्वभाव ही है—अपने सम्मुखका चारा छोड़कर समीपके पशुका चारा खानेको मुख बढ़ाता है। स्वामी डाँटेगा ही। जिसका स्वत्व लेने जाओगे, वह झगड़ेगा और समर्थ होगा तो मारेगा।

'मैं पशु नहीं हूँ, आप पशु हैं।' यदि अब मैं यह कहूँ तो आप मुझे गाली देंगे। सच बात यही है कि आप भी पशु नहीं हैं।

तब पशु कौन है?

जीव कोई पशु नहीं है।

जीव पशु नहीं है? कोई पशु नहीं है तो पशुपति कैसा? गायें ही न हों तो कृष्णको गोपाल कहेगा कौन?

मैंने पहले ही कहा कि भोगकी बात—ऐन्द्रियक भोगोंकी बात कर रहा हूँ। ये इन्द्रियाँ गायें हैं। इन इन्द्रियोंसहित वह देह पशु है। इस देहमें, देहके नाम-रूप-गुण तथा देहके मान-सम्मानमें, देहके सम्बन्धियोंमें जब आप आसक्त होते हैं, तब आप पशु होते हैं। पशुको अपना 'मैं' स्वीकार कर ले—वह पशु। अब आप निर्णय कर लें कि आप पशु हैं या नहीं।

यह नन्दलाल खिलाड़ी है। इसके सखा—भोले बालक खेलमें लग गये हैं। बालक बन गये गाय और बछड़े और यह बन गया है चरवाहा। अनादिकालसे चल रही है यह क्रीड़ा।

पशुओंका—पशुत्वका सुख भी इसीमें है, इसीमें कल्याण है कि वह पशुपतिके सम्मुख हो। भोगकी भी पूर्णता, शुद्धता, स्वच्छता एवं अनुकूलता तभी है, जब आप पशुपतिके सांनिध्यमें उसे प्राप्त करते हैं।

किसने कहा कि आप पशु बने रहें?

पशुसे—पाशबद्ध देह एवं दैहिक तत्त्वोंसे अपना तादात्म्य पृथक् कर लें और आप स्वतन्त्र।

आप शिवके, जगदम्बाके या गणेशजीके वाहन बनना चाहें तो भी आपको कोई रोकता नहीं। आप पाशमुक्त हुए और स्वतन्त्र—आपकी इच्छा हो सो बनिये।

शिवका वाहन है वृषभ—मूर्तिमान् धर्म। आपको धर्म प्रिय है?

शक्तिका वाहन है सिंह—मूर्तिमान् पराक्रम, किंतु अत्यन्त सुनियन्त्रित। ऐसा पराक्रम प्रिय लगता है?

गणेशका वाहन है मूषक—चपलता, चातुर्य एवं अद्भुत क्षमताका विचित्र सामंजस्य।

पाश कैसे छूटे?

ठीक बात—पाशमुक्त हुए बिना तो जीव पशु है और पशुको कुछ बननेकी स्वतन्त्रता नहीं होती। यह पाशमुक्त हो तो आगे सोचना सार्थक।

समस्त आध्यात्मिक साधन पाश-मोचनके लिये ही हैं। आप उनमेंसे क्या चुनते हैं, यह आपकी रुचि—आपका अधिकार; किंतु इतना स्मरण रखना है कि साधनोंकी सफलता ग्रन्थि-भेद—पाशके छेदनमें है।

योग, ज्ञान, भक्ति, कर्मयोग—अब इनमें भी कई-कई शाखा-प्रशाखाएँ। आप किसे अपना सकेंगे, यह अपनी शक्ति-सामर्थ्य देखकर आप निश्चय करें।

मुझे सीधा सरल लगता है—'बाबा! यह पाश अब तू ही काट दे। मेरे वशकी बात यह नहीं है।'

बाबाने कब अस्वीकार किया? वे तो हैं ही मोक्षदाता।

भगवान् विश्वनाथको तो मुक्ति-दानका व्यसन है। काशीमें मरनेवाले प्रत्येक प्राणीको वे मुक्त करते हैं। उनसे कोई मुक्ति माँगेगा तो उसे दुर्लभ रहेगी?

'कन्हाई! बहुत हो चुका खेल! मैं अब गाय या बछड़ा नहीं बनता।' आपने यह कहा नहीं। मोहन तो कबसे आपको हृदयसे लिपटा लेनेको आतुर है।

आप पशु बने रहनेमें सन्तुष्ट हैं तो शिव पशुपति हैं। आप पाश-मुक्त होना चाहते हैं तो वे शिव तो हैं ही। परम कल्याण ही उनका स्वरूप है।

पाश—ये पशुपतिके समीप नहीं हैं। वे दयामय अपनी ओरसे किसीको बाँधते नहीं। वे केवल पशुपति हैं। जो बँधकर पशु बन गये हैं—दयनीय हैं, पराधीन हैं, विवश हैं और अज्ञ हैं वे प्राणी। उनका

पालन-रक्षण दयापरवश ही वे प्रभु करते हैं।

पाश हैं मायाके—अविद्याके और इनमें आप स्वयं उलझ गये हैं। मायाने जाल फैलाया और उसमें मृग उलझ गया। बँधे-विवश मृगको सिंह खा न जाय, मृग क्षुधा-प्याससे मर न जाय—यह चिन्ता ले ली दयामय पशुपतिने। इस बँधे मृगका पालन करने लगे वे। पालन करते हैं।

वे इस जालको काट दे सकते हैं—काट देना उन्हें प्रिय है; किंतु बाबा भोले हैं। उनका एक व्रत है—मृग स्वतःकी उछल-कूद बन्द करके उनकी ओर देखे, उनसे जाल काटनेकी आशा-आकांक्षा करे।

'बाबा! तुम पशुपति हो? इस देह-पशुका पालन करो तुम। इस मन-पशुका पालन करो। इस बुद्धि-पशुका पालन करो और इस अहंकाररूप हिंसक पशुका निग्रह करो। मैं तुम्हारा पुत्र। पशुत्वके पाश मुझसे दूर फेंक दो।'